

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186821

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP-730-28-4-81- 10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No H 294.554
1358 K

Accession No. G. H. 584

Author मिडल, घनश्यामदास .

Title कृष्ण वन्दे जगद्गुरुम् .

This book should be returned on or before the date last marked below

अतीत की रसानुभूति

कुछ साल पहिले मैंने हिन्दी में अपने कुछ संस्मरण लिखे थे। इस प्रयास के पीछे कोई हेतु था, ऐसा मुझे उस समय नहीं लगा था। जो कुछ मैंने लिखा था वह महज अपने मनमोदन के लिए ही लिख डाला था। उसकी कोई संबद्ध श्रृंखला भी नहीं बन पायी थी। शायद उसकी यह खुबी भी थी। पर जो भी कुछ मैंने लिखा वह छप गया और छपने पर जिन्होंने इनको पढ़ा, उन्हें ये लेख पसन्द भी आये।

मैंने बताया है कि इन संस्मरणों को लिपिबद्ध करने में मेरा कोई हेतु नहीं था, पर यह भी कहाँ तक संपूर्ण सत्य है, यह मैं नहीं बता सकता। क्योंकि कई मानसिक संकल्प ऐसे होते हैं जिनका, जब तक हम अपने भीतर गहराई में नहीं उतरते तब तक, हमें पता ही नहीं चलता।

मन यह ऐसा अदभुत पंखी है, जो न तो अपने-आपके पूरे काबू में ही आता है न स्वयं अपने को इसका पूरा परिचय ही है। मन के सकल्प-विकल्प इस तेजी से दौड़ते रहते हैं कि अपने-आपको यह पता भी नहीं चलता कि यह पंखी कहाँ-कहाँ उड़ान लगा रहा है।

इसलिए जब तक हम सचेत होकर मन के हर कोने को अच्छी तरह टटोल नहीं लेते, तब तक हमें पूरा पता भी नहीं लगता कि हमारे अन्तर्जान में कितने हेतु और कितनी

वासनाएँ हमारे भीतर छिपी पड़ी रहती हैं, जो हमें बलात् यत्र-तत्र अविभांत गति से धकेलती रहती हैं। इसलिए मुझे लगता है कि जानकारी में न सही पर अन्तर्जान में ही मेरे उस प्रयास के पीछे कुछ हेतु रहा ही होगा।

पुराने आर्दमियों में — सभी में एक कमजोरी रहती है। वह यह कि उन्हें अपने अतीत की यात्रा करने में बड़ा रस आता है। इसका कारण है। वृद्ध के सम्मुख केवल एक ऊँची दीवार है। एक काला पर्दा सामने लटका पड़ा है। उस दीवार या पर्दे के उस पार क्या है, वह विषय इंद्रियातीत है। वृद्ध उसके संबंध में नितांत अज्ञान है। उसके पास इसलिए जो कुछ संग्रह है वह अपना अतीत मात्र है। वह उसी अतीत की गाथा गाता रहता है। और उसी में उसे रस मिलता रहता है।

वृद्ध का अतीत जब वर्तमान था तो उस समय उस वर्तमान के गर्भ में एक भविष्य छिपा पड़ा था। पर उस समय जो भविष्य था वह अस्त होकर अब अतीत बन गया। इसलिए वृद्ध के पास अब रह गया केवल अतीत या एक जर्जरित वर्तमान। इस वर्तमान को भी एक परिधि ने इतना सीमित कर दिया है कि उसके आगे के दृश्य भी उस वृद्ध के लिए सारे अदृश्य हैं। तो फिर उत्साह या उल्लास के लिए उसके पास कोई सामग्री नहीं रह गयी।

इसके विरुद्ध जवान के पास भविष्य का एक ठसाठस कोठार भरा पड़ा है। इसलिए भविष्य की स्वप्नलहरी में वह उड़ता रहता है, मनसूबे बाँधता है, योजनाएँ घड़ता है। और उस सुख-स्वप्न के प्रवाह में दुबकियाँ लगा-लगाकर वह उल्लसित होता रहता है।

युवा और वृद्ध के मानस-चित्र का यह एक दिन-रात का फर्क है। युवा के पास भविष्य है - वृद्ध के पास केवल अतीत है। वृद्ध भविष्य के मनसूबे नहीं बाँध सकता। पर उसको भी तो कुछ रस चाहिए। इसलिए वह अतीत में विचरण करके ही रस-संचय करता है।

वृद्ध की हालत एक चित्रकार की-सी है। वह एक चित्र बनाता है। फिर पीछे हटकर उस बनाए हुए अपने चित्र को दूर से देखकर नये-नये रंग भरता है और मन ही

मन प्रसन्न होता है। फिर आगे बढ़कर थोड़ा-सा और रंग भरकर फिर पीछे हटकर भरे हुए रंग को देखकर निश्चय करता है कि नया रंग जमा या नहीं? चित्र सज गया है न? वृद्ध की क्रिया-प्रतिक्रियाएँ भी उसी मानस के अनुरूप होती हैं।

चूँकि मैं भी पुराना हूँ इसलिए अनायास मुझे भी अतीत में रस आना लाजिमी था। इसी रस ने मुझे अपने संस्मरण लिखने के लिए भी प्रेरित किया होगा। यही हेतु रहा होगा—ऐसा मान लेना ही सही होगा।

खैर, तात्पर्य तो यह था कि लेख छप गये और पढ़ने वालों को पसंद आये।

तो फिर मित्रों का आग्रह हुआ कि मैं अपना जीवन-वृत्त क्यों न लिखूँ।

‘मैं’ की कई मृत्युएँ, कई जन्म

इस आग्रह ने मेरे मन में संकल्प-विकल्पों की एक नयी लहर जगा दी।

पहला प्रश्न तो मेरे सामने यह आया कि मैं अपना जीवन-वृत्त लिखूँ तो वह कौन से ‘मैं’ का। मैं बालक था, नादान था। फिर युवा होकर बूढ़ा भी हो चला। ‘एक शब्द में पेंदा भी हुआ और मर भी गया’। कई मृत्युएँ मेरी हो चुकीं और कई जन्म भी हो गये। कभी मैं स्वस्थ था, कभी रुग्ण था। कभी शांत और प्रसन्न था; तो कभी उद्द्विग्न और चिंतित था — ‘क्षणे लुप्ता क्षणे लुप्ता’। नये-नये रंग आये और वे सब चले भी गये। तो फिर कौन सा वह ‘मैं’ था, जिसकी मैं गाथा गाऊँ।

यह प्रश्न कुछ मित्रों को शायद पंडिताऊ लगे। पर जब कोई लेखक अपने विचारों को लिपिबद्ध करने बैठता है तो उसका दिमाग तो साफ होना चाहिये। उलझन में पड़ा हुआ लेखक लिखेगा भी क्या।

इसे बाल की खाल खँचना कहा जा सकता है। ऐसा कहकर लोग चाहे तो मेरा मजाक करें, पर यह लाचारी है। जो प्रश्न है उसे नेस्तनाबूद कैसे करें। खैर, यह तो एक रुकावट है ही। प्रश्न का जब तक निर्णय नहीं होता, तब तक गाड़ी आगे नहीं चलती।

दूसरा प्रश्न यह भी उत्पन्न होता है कि अपना जीवनवृत्त लिखने का तात्पर्य क्या? मात्र मनमोदन? कुछ मित्रों ने यह भी कहा कि मेरी जीवन-कथा नयी पीढ़ी के लोगों के लिए एक दीप-शिखा का काम करेगी।

मनमोदन की बात में कुछ तथ्य है सही। मैं भी उससे सहमत हूँ। पर वह शिक्षाप्रद हो सकता है ऐसा मानना मेरी मूर्खता होगी।



मनमोदन और शिक्षाप्रद, यह दोनों कुछ सीमा तक उत्तर और दक्षिण के निवासी हैं। इन दो में पूरा मेल नहीं है। मनमोदन के लिए अपनी मीठी घटनाओं का ही संस्मरण किया जा सकता है। पर ऐसी लेखमाला को गहराई से दूर रखना पड़ता है। उसमें कुछ विनोद होता है, तो कुछ मनोरंजन की सामग्री भी होती है। विफलता और कड़वे अनुभव चाहे दूसरों के लिए सावधानी-जनक हो, पर अपने आपको वे मनमोदन की सामग्री नहीं दे सकते।

इन दो हेतुओं की दिशा भिन्न-भिन्न है। इसलिए मनमोदन की बात तो मैं अपने लिए सुरक्षित रख सकता हूँ। जीवन-वृत्त के शिक्षाप्रद होने में मुझे पूरा संदेह है।

बात यह है कि अपना चरित्र लिखनेवाला व्यक्ति कितना भी सम्मानित क्यों न हो, यदि वह यह मानता है कि मेरी आत्मकथा लोगों के लिए एक दीप-शिखा का काम देगी और जन-समूह के लिए मार्ग-प्रदर्शन करेगी, तो वह अपने जीवन का झूठा मूल्यांकन करता है और अपने आपको भी धोखा देता है।

मैंने एक बार महामना पंडित मदनमोहन मालवीय से कहा था, “पंडितजी महाराज, आप अपना जीवन-चरित्र लिखिए।” मालवीयजी के जीवन ने मुझे काफी प्रभावित किया था। वे साधु, क्षमाशील, सुपठित और एक चरित्रवान् व्यक्ति थे। मैंने माना है कि उनमें अनेक गुण थे जो लोगों के लिए अनुकरणीय हो सकते थे। इसी से मेरा उनको यह आग्रह था।

उत्तर में पंडितजी ने कहा, “घनश्यामजी।” मुझे वे इसी नाम से पुकारा करते थे, “जीवन-चरित्र पढ़ना हो तो श्रीमद्भागवत पढ़ो। मेरे जीवन में क्या रक्खा है।” ये

शब्द मेरी अन्तरात्मा में ऐसे बिंध गये कि जैसे निशाने पर तीर ।

उनके वाक्य अक्षरशः सत्य थे । यह वाक्य मेरे मन पर स्थायी रूप से छप गये । यदि शिक्षादायक चरित्र पढ़ना हो तो फिर पौराणिक पात्रों का ही चरित्र क्यों न पढ़े ।

अनेक शिक्षाप्रद चरित्र पुराणों में ठूस-ठूस कर भरे पड़े हैं । हजारों वर्षों से इन चरित्रों को लोग पढ़ते आये हैं और उनसे प्रभावित होकर लाभ उठाते आये हैं ।

व्यासजी ने वेदों का सम्पादन किया और उसी अनुभव के आधार पर उन्होंने साधारण लोगों के हित के लिए महाभारत की रचना की; और फिर भागवत रचा । यह सारा प्रयास जन-कल्याण के लिए था ।

आश्चर्य है कि व्यासजी ने अनेक महापुरुषों के चरित्र तो लिखे, किंतु अपने बारे में उन्होंने कोई विवरण नहीं दिया ।

व्यासजी को यह सुभाव देनेवाला कोई व्यक्ति नहीं मिला, जिसने कहा हो कि भगवन्, आप अपना जीवन-चरित्र लिखिए । यदि किसी का ऐसा आग्रह होता तो उसका उत्तर भी व्यासजी वही देते जो मालवीयजी महाराज ने दिया था ।

न तो व्यासजी ने अपने बारे में कुछ लिखा, न उपनिषदों के रचयिताओं ने ही अपना कोई इतिहास लिखा । यह

निस्पृहता की भावना प्राचीन काल में हजारों वर्षों तक चलती रही और उसका अनुकरण बृद्ध भगवान्, आदि-शंकर, रामानुज, मध्व और अन्य आचार्यों ने भी किया । तुलसी, कबीर, मीरा भी इसी पद-चिन्ह पर चले । पर यह परिपाटी पिछले सौ-पचास वर्षों में बदल गयी है ।

जब लिप्टन ने कहा कि हमारी चाय सर्वश्रेष्ठ है, तो साधारण व्यक्तियों ने भी अपनी श्रेष्ठता का ढोल पीटना शुरू कर दिया । यही भावना वर्तमान आत्म-चरित्रों के लेखकों की रही है ।

अपना आत्म-चरित्र लिखनेवाले अधिकांश लेखकों की यह मंशा रही है कि वे अपनी एक सुन्दर तस्वीर खूब सजा-बजाकर पाठकों के सामने रखें, उन्हें मुग्ध करें और उनकी प्रशंसा का प्रमाण-पत्र लुटें ।

पर पाठक कोरे बूढ़ नहीं रहे । सचेत हो गये हैं । वे भटपट धोखा नहीं खाते । तो भी आत्म-चरित्र लिखनेवाले लेखकों की लोकेषणा की चाह तो वैसी ही बनी रही है । और वे इस मोह में यह मान भी लेते हैं कि जो मैं लिखूंगा, वह पाठकों को स्वीकृत होगा । इसलिए अपनी कहानी लिखते समय लेखक अपनी दुर्बलताओं पर परदा डालकर उन्हें छिपाता है और अपने साधारण से साधारण गुणों को बढ़ा-चढ़ाकर लिखता है । ऐसे आत्मचरित्र शिक्षाप्रद हो सकते हैं, यह मानना निरी मूर्खता है ।

महान व्यक्ति न गली-गली में पैदा होते हैं और न हर सदी में जन्म लेते हैं

योरप और अमरीका में कुछ लेखकों ने विशिष्ट पुरुषों की स्वतंत्र जीवनियाँ भी लिखी हैं, उनमें इन लोगों ने नायक का करीब-करीब सही चित्र देने का प्रयास किया है। दुर्बलताओं पर पर्दा नहीं डाला है। गुण-दोषों का, सभी का विवेचन किया है। ऐसे चरित्र पठनीय इसलिए हैं कि नायक की अच्छाई और बुराई दोनों का पाठक को पता चल जाता है। पर यह साहित्य भी सामयिक ही होता है। कुछ अर्से के बाद उसका केवल एक ऐतिहासिक स्थान रह जाता है। और वह भी कुछ इने-गिने चरित्रों का।

चर्चिल एक महान् व्यक्ति था। मेरा भी उनसे काफी सम्पर्क था। मुझ पर उनकी गहरी छाप पड़ी। मेरी राय है कि चर्चिल न तो गली-गली में पैदा होता है, और न वह हर सदी में ही जन्मता है। किन्तु मैं भी तो चर्चिल को 'उतना ही जानता था जितना कि मैंने उन्हें अपने निकट सम्पर्क से देखा। पर चर्चिल की दूसरी शक्ल भी थी। लार्ड मौरन चर्चिल का अपना खास हुकीम था। उसने चर्चिल का वृत्त लिखा है, वह इतना सुन्दर नहीं है। लार्ड मौरन का चर्चिल से प्रतिष्ठ सम्बन्ध था। इसलिए उनके दोषों को भी वह जानता था। उसने चर्चिल के दोषों का भी विवरण दिया। पाठकों के सामने दोनों पहलू आ गये। ऐसे जीवन-चरित्रों में स्थायित्व न भी हो तो वे ज्ञानवर्द्धक तो हैं ही।

रुजवेल्ट भी एक महान् व्यक्ति था। पर उसके चरित्र-लेखक ने यह भी बताया कि रुजवेल्ट विवाहित होने पर भी एक अन्य महिला से साँठ-गाँठ रखता था। हमारी भारतीय संस्कृति के मापदंड के हिसाब से तो वह व्यभिचारी पुरुष था। पर प्रतिष्ठित लोगों के इन दुषणों से चौंकना नहीं चाहिए क्योंकि हाड़-मांस का यह पुतला गुण-दोषों की

खान है। हमारे अधि-मुनि भी इन दुर्गुणों से वंचित नहीं रहे।

जुड चेतन गुण दोषमय विश्व कीन्हा करतार।

संत हंस गुण गहहि पय, परिहरि वारि विकार ॥

इसलिए हमें उनके दोषों की उदारतापूर्वक अवहेलना करनी चाहिए। उनके गुणों को ग्रहण करना चाहिए। चर्चिल और रुजवेल्ट के गुणों की ही समाज ने कद्रदानी की है।

पर असलियत जो मुझे बतानी थी वह तो यह कि चर्चिल या रुजवेल्ट अपनी आत्मकथा लिखते तो अपने दोषों को खा जाते, इसलिए उनके असली चरित्र के ज्ञान से हम वंचित रह जाते। पाठकों की इन पोथियों से इन व्यक्तियों के चरित्र की जिज्ञासा तो पूरी हो जाती है, पर इसके बाद वह पोथी महज अलमारी की भूँगार बनकर रह जाती है। अतः मैं तो इन चरित्रों का कोई स्थायी मूल्य नहीं रहता।

कुछ लेखक ऐसे भी हुए जिन्होंने अपने दुराचारों का ज्ञान-बुझकर पेट भरकर विवरण दिया है। उदाहरण के तौर पर रूसो का नाम हमारे सामने आता है। वह फ्रांस का एक उत्कृष्ट विचारक था। उसने अपने 'कन्फेशन' लिखे। सारे कन्फेशनस में उसने अपने व्यभिचारों का एक नंगा चित्र जनता के सामने रखा है। पर यह इतना बड़ा पोथा उसने क्यों लिखा यह हमारी संस्कृति के वातावरण में कुछ अजीब सा लगता है।

खैर, रूसो की रूसो जाने। पर वह भी एक अपवाद था। ऐसा भी कथन है कि उसकी मार्क्सिक विक्षिप्तता ने उसे इस जजाल को लिखने के लिए प्रेरित किया होगा।

किसी ने उसे धूर्त और लुच्चा भी बताया है। हालाँकि साहित्यिक दृष्टि से उसकी रचना साहित्य में एक विशेष

स्थान रखती है जिसको हम ठुकरा नहीं सकते।

एलेक्जेंडर, जूलिय सीजर, हर्नबाल, अट्टिला इत्यादि की जीवनियाँ भी इतिहास के पोंडितो ने लिखी हैं। वे कहाँ तक आधारभूत हैं, यह कहना असम्भव है। इसी तरह नेपोलियन, हिटलर, मुसोलिनी इत्यादि की भी जीवनियाँ प्रकाशित हुई हैं, इनकी भी प्रामाणिकता के बारे में विवाद हो सकता है। पर इन लोगों की जीवनियाँ लिखने के पीछे लेखक का हेतु यही रहा है कि जन-समाज को यह बताकर सचेत कर दिया जाये कि किस तरह जोर-जुलम से सत्ता स्थापन करके मदांध होकर एक बलिष्ठ व्यक्ति न्याय-अन्याय का विवेक छोड़ देता है और अपनी सत्ता का दुरुपयोग कर सकता है। पाठक को यह भी शिक्षा मिलती है कि दुर्जन की दुर्गति और सज्जन की सुगति अवश्यभावी है। श्रुति-स्मृति पुकार-पुकारकर इस सिद्धांत का समर्थन करती हैं और इतिहास इसका साक्षी है।

सुकरात और असीसी के संत की भी जीवनियाँ हैं पर उनका भी कोई आधार है या केवल किवंदंती, इसका निश्चय

नहीं। पर उनका जीवन-चरित्र चाहे प्रामाणिक हो या न हो, उनकी वाणी तो प्रामाणिक है ही। और यह वाणियाँ ही उनका जीवन-चरित्र भी हैं।

तुलसीदास, सूर, मीरा, कबीर, संत तुकाराम, समर्थ रामदास, ज्ञानदेव इत्यादि भक्तों की भी वाणी ही उनकी जीवनियाँ हैं। इन वाणियों का उद्देश्य यही है कि साधकों का भला हो। जन-साधारण का नैतिक स्तर 'ऊँचा' उठे। इन संतों ने अपनी जीवनियाँ लिखकर अपनी शक्ति वृथा नहीं गँवाई, यह उनकी निस्पृहा का द्योतक है।

इस सारे विश्लेषण से निष्कर्ष यह निकलता है कि ये सारी की सारी जीवनियाँ भिन्न-भिन्न हेतुओं को लेकर लिखी गयी हैं। एलेक्जेंडर इत्यादि की जीवनियाँ कोई प्रेरक साहित्य नहीं हैं। पर बोधजनक इसलिए हैं कि मत्स्याचारियों के कुकर्मों का दिग्दर्शन कराके जन-साधारण को सतर्क कर दिया गया है और इस सिद्धांत की पुष्टि की है कि पाप का पतन अवश्यभावी है।

जीवनियाँ—गुरा दोषो की खान

इतना विश्लेषण करने के बाद भी यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि आधिभौतिक दृष्टि से एलेक्जेंडर इत्यादि या अन्य नीति-विशारद नेताओं की या उद्योगपतियों की जीवनियों का भी महत्व है जिनकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। वर्तमान में जो सैनिक बनकर या नीतिज्ञ बनकर नेतृत्व करना चाहता है उसको इन जीवनियों में काफी मसाला मिल जाता है। उसी तरह जो धन कमाकर यशस्वी बनना चाहता है उसको भी फोर्ड या कारनेगी की जीवनियों में अर्थपूर्ण सूचनाएँ मिल जाती हैं।

पर यह सारा साहित्य सामयिक है। इसमें कोई स्थायित्व नहीं है। इसमें कोई नित्यत्व नहीं है। आखिर इन विजेताओं के या अर्थपतियों के उद्योग का फल भी अनित्य ही साबित हुआ। एलेक्जेंडर की विजय परिणाम में निष्फल साबित हुई। फोर्ड-कारनेगी इत्यादि भी धन कमाकर अपने यश को स्थायित्व नहीं दे सके। अनित्य वस्तु का नाश तो होता ही है।

इसलिए हमारे नीतिशास्त्र में ऐसे साहित्य को कोई स्थायी स्थान नहीं दिया गया। वेदांत या भारतीय नीतिशास्त्र जिसको भागवत धर्म भी कहा गया है—समर की विजय या अर्थ-प्राप्ति के यश की उपेक्षा नहीं करता। पर उनकी उपयोगिता स्वीकार करने में हमारा नीतिशास्त्र यह कैद लगा देता है कि यह सब उद्योग यदि लोक-कल्याण या लोक-संग्रह के लिए हो तो ही ग्राह्य है। यदि केवल आसक्ति या लोलुपता के वश होकर साम्राज्य-स्थापन करना है या धन-संग्रह करके कुबरे बनना है तो वह कर्म अर्थहीन है और त्याज्य है।

तात्पर्य यह है कि महाभारत का युद्ध और हिटलर का

महायुद्ध—इन दो में कोई सादृश्य नहीं है।

एक के पीछे सद हेतु था जिसके लिए स्वयं श्रीकृष्ण ने अर्जुन के रथ को हाँककर धर्मजय को प्रेरणा दी। दूसरे ऐसे युद्धों के पीछे दुर्वासना रही जिसने योद्धाओं का और संसार का विनाश किया और जगत का कोई कल्याण नहीं हुआ।

इसलिए हमारे नीतिशास्त्र के अनुसार जीवन-वृत्त वही सार्थक है जिससे कल्याणप्रद शिक्षा मिले। ऐसे जीवन-वृत्तों में ही स्थायित्व स्थित है, और इसका प्रमाण यही है कि हजारों वर्षों से ऐसे साहित्य का प्रचलन अबाधित रूप से इस भूमि में जारी रहा है। और इससे जन-समूह का कल्याण हुआ है।

अर्जुन को लड़ने का आग्रह करते समय कृष्ण ने कहा कि यह युद्ध तुम्हें अनासक्त होकर, लभ और हानि के द्वन्द्व से मुक्त होकर केवल प्रपन्ना कर्तव्य समझकर ही कर। तभी तुम्हें इसके दोषों से मुक्त होगा। इसका अंतिम परिणाम शुभ ही हुआ।

सुकरात इत्यादि की जीवनियाँ और उनकी वारियाँ जन-कल्याण के लिए लिखी गयीं और सुरक्षित रखी गयीं। इन सतों के शुभ विचारों ने समाज को प्रेरणा दी और मनुष्य के मनुष्यत्व को उठाया।

व्यासजी ने जो भी कुछ लिखा वह लोक-कल्याण के लिए ही लिखा। भक्तों के चरित्रों को भी बढ़ा-चढ़ाकर व्यासजी ने जन-कल्याण के लिए ही चित्रांकित किया।

कमरा जो तस्वीर खींचता है वह करीब-करीब सही होती है। पर विशिष्ट कलाकार फोटोचित्र को तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से देखते और हेय समझते हैं और कला में इसे कोई स्थान नहीं देते।

उनका कथन है, जो सही भी है, कि मनुष्य के शरीर-मात्र का चित्र ही उसका सम्पूर्ण चित्र नहीं हो सकता। व्यक्ति केवल पंचमहाभूत की भौतिक मूर्ति नहीं है, उसके भीतर मन और बुद्धि भी हैं और आत्मा भी है। सम्पूर्ण व्यक्ति आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक सत्ता का पुत्र है। केवल-मात्र पार्थिव शरीर का चित्र व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रकट नहीं कर सकता। इसलिये उच्चकोटि के चित्रकार जब किसी का चित्र बनाते हैं तो उस व्यक्ति के स्वभाव और आत्मा की झलक लाने का भी वे प्रयास करते हैं। यह सही भी है। और इसी तर्क के अनुसार प्राचीन ऋषि-मुनियों ने पौराणिक चरित्र भी केवल भौतिक दृष्टि से नहीं बल्कि मुख्यतः आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ही लिखे।

इसलिये ऋषियों ने जो चरित्र लिखे उनमें आराध्यदेव के शरीर का वर्णन तो अत्यंत संक्षिप्त और नगण्य है और उनके आचरणों पर विशेष रंग लगाया है। उदाहरण के लिए श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन है। मोर-मुकुट-पीतांबर का वर्णन है। श्रीकृष्ण के वर्ण का वर्णन भी है पर वह कुछ उलझन में डालनेवाला है। श्याम वर्ण भी लिखा है, नील कमल जैसा वर्ण भी श्रीकृष्ण का बताया है, मेघ वर्ण भी बताया है। यह सब अलौकिक वर्ण है, जो साधारणतया कल्पना में ठीक जमते नहीं।

पर मुख्य महत्व तो ऋषि-मुनियों ने श्रीकृष्ण के चरित्र को ही दिया। ऋषियों का तो तात्पर्य यह था कि श्रीकृष्ण के चरित्र को पढ़कर भक्त लोगो की भक्ति जागृत हो, वे सन्मार्ग में प्रेरित हो और लोक-कल्याण की वृत्ति उनकी बलवान हो।

इसलिये जिन दोषों का साधारण जन दोषों में शुमार

कर सकते हैं उन दोषों को भी ऋषियों ने गुण के रूप में ही प्रकट किया है। इसी पद्धति को ठ्यास और तुलसी ने भी अपनी कृतियों में अपनाया है। कालिदास ने भी रघुवंश में रघु के शरीर का थोड़ा-सा वर्णन करके अंत में उसके चरित्र को ही महत्व दिया है।

यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है, क्योंकि पौराणिक चरित्र लिखनेवालों का ध्येय केवल लोक-कल्याण का ही था। इसलिये उपास्य की शारीरिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं को उन्होंने विशेष महत्व नहीं दिया। लोक-कल्याण के लिए आराध्य-देव के चरित्र को काट-छाँटकर उसे सम्पूर्ण बनाने का ही उन्होंने प्रयास किया है। ऐसा करने का उनको पूरा अधिकार था। पर यह अधिकार केवल ठ्यास और तुलसी तक ही सीमित रह सकता है।

अपना आत्मचरित्र लिखनेवाले व्यक्ति को यह स्वतंत्रता नहीं है कि वह अपना मनमाना सुंदर चित्र काट-छाँटकर और सजाकर जनता को धोखे में डाले।

इस विश्लेषण के बाद कौन ऐसा मनस्वी होगा जो अपना आत्मचरित्र लिखने का साहस करे और समय गँवाये।

मालवीयजी महाराज का यह कथन इसलिये बावन तोला पाव रत्ती सही है कि “जीवन-चरित्र पढ़ना हो तो भागवत् पढ़ो।” मैं इसमें यह भी जोड़ देता हूँ कि भागवत भी पढ़ो और महाभारत भी।

“कौन पीतल मोरी का पानी जब हों अमृत कुण्ड भरे?”

यदि गंगाजल मिलता है तो गंदे पोखरे का पानी क्यों पीना चाहिए? ऐसे उदात्त चरित्रों को छोड़कर अन्य सामयिक और अनित्य जीवन-साहित्य से जन-समूह को क्या उपलब्धि हो सकती है?

भागवत-धर्म नारायणीय-धर्म

मालवीयजी महाराज ने कहा कि जीवन-चरित्र पढ़ना ही तो भागवत पढ़ो। इस प्रसंग पर कुछ चर्चा आवश्यक मालूम होती है।

हिन्दुओं की मान्यता है कि वेद अनादि, स्वयंसिद्ध और अपौरुषेय हैं। यदि 'वेद' शब्द का अर्थ व्यापक रूप में लिया जाये तो वह सही भी है। क्योंकि 'वेद' शब्द का अर्थ होता है 'ज्ञान' और ज्ञान अनादि और अपौरुषेय है।

बिजली को बैट्रिमिन फ्रैक्लिज या एडिसन ने प्रत्यक्ष करके दिखाया पर उसके पहले भी विद्युत तो थी ही। इसलिये यह कहा जा सकता है कि बिजली अनादि और अपौरुषेय है। उसी तरह वेद भी अनादि और अपौरुषेय हैं।

पर यदि वेदों का संकुचित अर्थ केवल संहिताओं तक ही सीमित मानना है तो इतिहास के परिणतों ने इनके सकलन का काल भी निर्णय किया है। इसलिये उनके हिसाब से वेदों की संहिताएँ अनादि नहीं हैं। पर यह सारा अनुमान मात्र है। यद्यपि हम नहीं कह सकते कि यह अनुमान सर्वथा निर्मूल है।

शास्त्रों के अनुसार वेदों का सकलन और उनको सम्पादित करके उन्हें चार संहिताओं में विभाजन करने का श्रेय व्यास भगवान् को है। इस प्रयास से वेद विद्या, लोक और समाज के लिए सुगम और सुलभ तो हुए पर इनके सम्पादन करने पर भी व्यास जी को पूरा सतोष नहीं हुआ। क्योंकि इस सकलन के बाद भी वेद साधारण अशिक्षित समाज की समझ के बाहर का ही क्षेत्र रह गया। सर्व-साधारण को वेद का ज्ञान सरल साहित्य द्वारा हृदयंगम कराना व्यासजी का प्रिय ध्येय था और उसी की पूर्ति के लिए उन्होंने इसके पश्चात् महाभारत की रचना की।

कहा जाता है कि महाभारत की रचना उन्होंने विशाला बंदरी के किसी एक रकात स्थल पर बैठकर की थी। महाभारत कब रची गयी, यह ठीक-ठीक बताना तो कठिन है पर इतिहास के परिणतों का कथन है कि महाभारत-काल ईसवी शताब्दी के सौ वर्ष पहिले या इससे भी अधिक पहिले का रहा होगा। आरम्भ में इस ग्रंथ का नाम 'जय' था, फिर 'भारत' नाम चल पड़ा और इसके बाद आकार की वृद्धि होकर यह ग्रंथ महाभारत के नाम से प्रख्यात हो गया।

महाभारत सचमुच एक अनुपम ग्रंथ है यह सर्वमान्य सम्मति है। इसमें वेदांत और लोकशास्त्र दोनों का समन्वय है। धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, व्यवहार शास्त्र सभी का इसमें समावेश है। देवर्षियों ने चारों वेदों को एक पल्ले में रखा और महाभारत को दूसरे पल्ले में, जब तौला तो महाभारत को ही भारी पाया। यह कवि की उडान है पर इसमें सत्य है। व्यासजी ने उसका "सूक्ष्मार्थ न्याययुक्त और अनेक समस्यावित" कहकर वर्णन किया है। यह भी कहा है कि "जो कुछ महाभारत में है वह सभी ग्रन्थ ग्रंथों में यत्र-तत्र मिल सकता है पर जो महाभारत में नहीं है वह कहीं भी उपलब्ध नहीं है।"

ससार-यात्रा के यात्री को यात्रा के सदर्भ में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ऐसी कठिनाई का प्रवसर उपस्थित होने पर महाभारत के वर्णित विशिष्ट पक्षों ने किस तरह आचरण किया, समस्याओं का सामना किया और उनको सुलभाया इसका पाठक को बोध होता है और जो प्रेरणा और शिक्षा इस विवरण से जिज्ञासु को मिलती है वह अन्य पुराणों में कठिनाई से मिलती है।

सर्व-सम्मति यह स्वीकार करती है कि महाभारत एक ऐसा अद्भुत पुराण और इतिहास का काव्य है, जिसकी तुलना में न तो संस्कृत में, न अन्य किसी भाषा में ही कोई दूसरा ग्रंथ उपलब्ध है। संसार-यात्रा को सुगम बनाने के लिए जिस किसी को कुछ सहारा चाहिए, उसके लिए महाभारत के भंडार में सभी तरह की सामग्रियाँ उपलब्ध हैं।

महाभारत भागवत धर्म का प्रतिपादक ग्रंथ है। भागवत धर्म को नारायणीय धर्म के नाम से भी बताया गया है। शांति पर्व के अंत में इस नारायणीय या भागवत धर्म का विस्तृत वर्णन दिया गया है। इसकी प्राचीन परंपरा का भी विस्तारपूर्वक वर्णन है। गीता में भी व्यासजी ने बताया

है कि पूर्वकाल में विवस्वान, मनु, इक्ष्वाकु इत्यादि ने इस भागवत धर्म को साधा था और फिर यह लुप्त हो गया। यह नारायणीय धर्म जब लुप्त होता जा रहा था तब महाभारत काल में इसका फिर से उद्धार किया गया, यह महाभारत और गीता दोनों में बताया है। इस जीर्णोद्धार का श्रेय श्रीकृष्ण को है। इसलिए महाभारत पढ़ने के पहिले नारायण और नर दोनों को नमस्कार करने का विधान है।

“नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयम् उदीरयेत्।”
यह नमस्कार का प्रसिद्ध श्लोक है जिसको पढ़कर ही महाभारत पढ़ने का विधान है।

अभ्युदय का सरल मार्ग—भक्ति

बताया गया है कि नर और नारायण यह दो अक्षि थे । आगे चलकर इन्होंने ही कृष्ण और अर्जुन के रूप में अवतार लिया । इनके अवतार का हेतु भी यही बताया गया है कि इस लुप्त और ज़ीरा भागवत धर्म का पथात् प्रवृत्ति मार्ग या निष्काम कर्म का जिसको कर्मयोग भी कहा गया है, ज़ीरा-द्वार करना । इस भागवत या नारायणीय धर्म का शाश्वत और एकात्मिक धर्म के नाम से भी वर्णन किया गया है । शांति-पत्र में इस धर्म की व्याख्या में कहा गया है—

नारायण परो धर्म पुनरावृत्ति दुलभ

प्रवृत्ति लक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मक
यह प्रवृत्ति मार्ग—नारायणीय धर्म—पुनर्जन्म का टाकने-वाला है ।

प्रवृत्ति का तात्पर्य है कि सन्यास न लेकर मरणपर्यंत अपने स्वधर्म का स्वार्थ और कामना-रहित होकर अनासक्त भाव से कर्तव्य कर्म समझकर पालन करते जाना । कर्म को न छोड़ें । क्योंकि कर्म छोड़ देने से अपना कर्तव्य कर्म जो लोक-कल्याण या जन-कल्याण के लिए विहित है, उसका लोप हो जाता है । कर्म को यज्ञ बताया गया है, और कहा गया है कि यज्ञ में ब्रह्म है । इसलिए कर्म या यज्ञ का त्याग करना मानो ब्रह्म की अवहेलना है । सारांश यह है कि यह भागवत धर्म प्रवृत्ति मार्ग पथात् निष्काम कर्म का प्रतिपादक है और महाभारत-काल में इस लुप्त धर्म को श्रीकृष्ण ने पुनः स्थापित किया ।

महाभारत के पात्रों के और विशेष करके श्रीकृष्ण के आचरण से हमें इसी कर्मयोग की अद्भुत शिक्षा मिलती है । इसलिए इसके स्वाध्याय से जन-समाज को कठिन समय में साहस और सहारा मिलता है ।

भागवत भी भागवत धर्म का ही प्रतिपादक है पर इसमें और महाभारत में भेद यह है कि महाभारत में कर्म-योग पर विशेष भार दिया है और भक्ति को गौण स्थान दिया है । भागवत भी निवृत्ति मार्ग का पोषक नहीं है । यह भी प्रवृत्ति मार्ग और भागवत धर्म का ही प्रतिपादक है पर इसमें भक्ति पर विशेष आग्रह है ।

इस तरह महाभारत और भागवत दोनों के पढ़ने से कर्मयोग और भक्तियोग इन दोनों भागों का स्पष्ट ज्ञान मिल जाता है ।

गीता इस संपूर्णता की ओर और भी आगे बढ़ गई । कर्मयोग और भक्ति दोनों ही अतः में ज्ञान-प्राप्ति के साधक हैं । गीता में इन दोनों भागों के साथ ज्ञानयोग को मिलाकर ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों का समन्वय कर दिया है । गीता का यह सबसे बड़ा माहात्म्य है ।

यद्यपि गीता में कर्मयोग का ही आग्रह है । पर गीता-कथित कर्मयोगी और भक्ति के आचरणों में कोई विशेष अंतर नहीं है । गीता महाभारत का ही अंश है, इसलिए साधकों को स्वधर्म आचरण की प्रेरणा के लिए महाभारत एक अमूल्य ग्रंथ है ।

पर इस अद्भुत ग्रंथ के लिखने पर भी त्यासजों को पूर्ण सतोष नहीं हुआ । क्योंकि महाभारत भी जन-साधारण के लिए कठिन और दुर्गम ही रहा । उस समय के समाज के मानस से हम काफी अनभिज्ञ हैं, पर कल्पना है कि उस काल का समाज सत्य धर्म से विचलित होकर अधकार में टटोले मारता हुआ भटक रहा था । उस समय एक ऐसे नये मोड़ की आवश्यकता थी, जो इस समाज को फिर से सही रास्ते पर लुकर उसके उत्थान में उसे सहायता दे ।

वेद सबके लिए बुद्धिगम्य नहीं थे, इसलिए पुरोहितों की चल गयी। तरह-तरह के यज्ञ-मात्र में ही कर्तव्य की इतिश्री समझी जाने लगी। महाभारत यद्यपि नीति और व्यवहार का अनुपम भंडार था, सगम भी था, पर उसका मर्म भी जन-साधारणके लिए सर्वथा ग्राह्य नहीं था। इस काल-धर्म को समझाकर व्यासजी को लगा कि महाभारत से भी और कोई एक सरल साहित्य की रचना की जाये जो साधारण जनता के लिए बुद्धिगम्य हो और उनके आचार-विचार को एक नया मोड़ देकर उनके नैतिक उत्थान में सहायक हो।

व्यासजी ने अपना यह असंतोष नारदजी के सामने प्रकट किया। व्यासजी ने कहा कि नारदजी, मैंने महाभारत तो लिखा पर इससे भी मुझे शांति और संतोष नहीं मिला है। इस पर नारदजी ने कहा, “भगवन्, आपने महाभारत लिखकर लोगों के मार्ग प्रदर्शन के लिए काफी मसाला दिया है, उनका कल्याण भी किया है, पर महाभारत ने आपने कर्मयोग की उच्च शिक्षा दी है, कर्तव्य-अकर्तव्य का मार्ग

भी समझाया है, पर आपने भक्ति की अवहेलना की है। साधारण मनुष्य के पास न बल है, न सामर्थ्य है, न इतनी बुद्धि या आत्म-बल है कि वह उच्च विचारों को आसानी से ग्रहण कर ले और उसी के अनुसार आचरण करे। इसलिए एक ऐसा मनुष्य जो संस्कारी नहीं है वह महाभारत के महान् पात्रों से क्या शिक्षा ले, क्या ग्रहण करे और किस क्षेत्र में उनका अनुकरण करे? और किस आचरण को त्याज्य माने? ऐसे सामान्य लोगों के लिए तो भक्ति ही एकमात्र औषधि है, जो निम्न-से-निम्न श्रेणी के व्यक्ति का भी अभ्युदय कर सकती है। यह मार्ग अत्यंत सरल है। इसमें कोई बाधा या विघ्न भी नहीं है। इसलिए आप कोई ऐसा भक्ति का ग्रंथ लिखें जो साधारण व्यक्तियों की श्रद्धा को जगात करके उन्हें भगवान की भक्ति की ओर प्रेरित करे।”

व्यास भगवान ने नारदजी के इस प्रस्ताव को मानकर श्रीमद्भगवत की रचना की।

भजनो द्वारा जन-धर्म की रक्षा

भागवत कब लिखी गयी, यह विवाद-ग्रस्त विषय है। पर पंद्रह सौ साल पहिले भागवत प्रचलित थी, ऐसा बताया गया है—संभव है कि इससे भी पहिले यह वर्तमान रही हो। भागवत भी महाभारत की तरह भागवत धर्म का ही प्रधान ग्रंथ है।

भागवत धर्म के जनक श्रीकृष्ण ही कहे जाते हैं। भागवत धर्म या पांचरात्र या सात्वत धर्म की व्याख्या विद्वानों ने की है। यह शब्द करीब-करीब दो हजार या इससे अधिक सालों से प्रचलित है पर उसके असली तात्पर्य से तो उस काल के लोग ही पूर्णतया परिचित थे। उसका असल तात्पर्य समझने के लिए वर्तमान समाज को कठिनाई पड़ती है।

जिस समय महाभारत और भागवत धर्म का उदय हुआ—जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है—वैदिक धर्म के मर्म का ह्रास हो चुका था। शरीर था पर आत्मा का अभाव था। वेद पुरोहितों का व्यापार-मात्र बन गया था। यज्ञों में हिंसा और सोमपान तक ही वैदिक धर्म सीमित रह गया।

इस पतन को संभालने के लिए वेद-परंपरा को एक सात्विक धक्के की जरूरत थी। यह धक्का सर्व-प्रथम बुद्ध भगवान् ने दिया। इस धक्के ने वेद के साथ-साथ वेदांत की जड़ भी दीली कर दी। उसके बाद शक, हूण और यवनो के आक्रमणों ने सारी-की-सारी वेद-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया। समाज भिन्न हो गया। इस अवस्था को सुधारने के अनेक प्रयास हुए। इन प्रयासों में सबसे बड़ा प्रयास था भागवत धर्म के पुनर्गठन का। इन प्रयासों में महाभारत और भागवत-कथित वैदिक मार्ग को नवीन रूप देकर जीवित करने का व्यास भगवान् का सर्वश्रेष्ठ प्रयास था। जैसे वैदिक धर्म का ह्रास हुआ, वैसे ही बौद्धमत भी भ्रमणों की

संपत्ति बनकर समाज को सही रास्ते से दूर घसीटता चला गया।

भागवत धर्म के उदय ने इस सारी गिरती हुई स्थिति को संभाला। महाभारत, गीता और भागवत के प्रभाव से भागवत धर्म ने जड़ पकड़ी।

वैदिक मार्ग को पुनः जीवित करने में सबसे बड़ा हिस्सा आदि-शंकराचार्य का था। शंकराचार्य एक उच्च शिखर का विद्वान और विचारक था। शंकराचार्य और बौद्ध मत में जो सबसे बड़ा भेद था वह यह कि बुद्ध ने आत्मा और परमात्मा पर कोई विशेष लक्ष्य नहीं दिया। सन्यास पर ही बुद्ध का आग्रह था। शंकराचार्य का भी सन्यास पर आग्रह तो था, पर आदि-शंकर ने आत्म-ज्ञान पर विशेष जोर दिया।

माया से मोहित मनुष्य शरीर को ही 'मैं' समझ बैठते हैं। अंतरस्थ आत्मा ही सारी इंद्रिय, मन और बुद्धि को कैसे जीवन देती है इस ज्ञान से अनभिज्ञ थे। इसी अज्ञान में ग्रस्त प्राणी जन्म-मरण के चक्कर में फँसे रहते हैं जो आत्म-ज्ञान होने पर ही इसके बंधन से घुटते हैं।

आदि-शंकर ने भक्ति की अवहेलना नहीं की है ऐसा उनके स्तोत्रों से पता चलता है। कर्मयोग पर भी उनका आग्रह दीला था ऐसा भ्रम होता है पर भारत के चार कोनों में चार मठ उन्होंने स्थापित किये यह कोई छोटा-मोटा कर्म-योग नहीं था। इतने पर भी कुछ लोग शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध मानते थे। जो भी हो, इसमें कोई संशय नहीं कि शंकर जैसा विद्वान और विचारक बुद्ध के बाद अब तक नहीं हुआ। शंकर ने वेदांत में और भागवत धर्म में एक ऐसी क्रांति पैदा कर दी जिसकी छाप भारतीय जीवन पर स्थायी रूप से

अंकित रह गयी।

आदि-शंकर ने निवृत्ति पर अधिक जोर दिया। कर्मयोग पर, अर्थात् स्वधर्म के आचरण पर उनका आग्रह दीला था, ऐसी लोगो की मान्यता है। पर इतिहास इसका साक्षी नहीं है।

शंकर के बाद रामानुज, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि आचार्यों ने भी भागवत धर्म की स्थापना पर ही जोर लगाया। इन सबने भक्ति मार्ग का प्रचार किया। पर इन सबका भी निवृत्ति मार्ग पर ही भार था। इसके बाद और भी अनेक भक्त पैदा हुए।

दक्षिण में आलवार भक्त हुए, बंगाल में चैतन्य और महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वर और तुकाराम, समर्थ रामदास इत्यादि अनेक भक्त हो गये, सुर, कबीर, नानक, नरसी मेहता, मीरा, दादू, रैदास को लेकर और भी अनेक भक्त और सन्त पैदा हुए।

इन सब संतों और भक्तों ने पाँच-छ सौ वर्षों के भीतर ही एक के बाद एक ने जनम लेकर इस बढ़ते हुए अंधकार पर एक प्रचण्ड प्रहार किया और इस फँसते हुए अंधकार की जड़ दीली कर दी।

उस काल में न तो तार था, न थी डाक। समाचारपत्र तो थे ही कहाँ। इन सब साधनों की सुविधा न होते हुए भी भक्तों-संतों का सदेश देश के कोने-कोने में पहुँच गया यह ईश्वर का एक आश्चर्यमय चमत्कार था। संतों की प्रचलित परिपाटी थी तीर्थ-यात्रा करते रहना और यात्रा के इस भ्रमण में जनता को शुभ संदेश पहुँचाते रहना। तीर्थ-यात्रा पर निकलते तो रास्ते में भजन-कीर्तन जारी रहता था। साथ में एक मंडली चलती थी और जहाँ पहुँचते वहाँ की ग्रामीण जनता भी भक्त मंडली में शामिल हो जाती थी। यह बृहत् समुदाय रात-भर भजन-कीर्तन करता रहता था। इसी पद्धति से जन-समुदाय में भक्ति का प्रकाश फैलता जाता था।

इन संत भक्तों ने प्रचलित भाषा के सरल पदों में ही

भजनों की रचना की, जिनको गा-गाकर जन-समूह में भक्ति-भाव जागृत होता चला गया। इन पदों की लोकप्रियता के कारण एक मुँह से दूसरे मुँह यह भजन बड़ी तेजी से पहुँच जाते थे। इस प्रकार की पद्धति से संतों ने इस डूबती हुई व्यवस्था को संभाला और धर्म और संस्कृति की रक्षा की।

श्रीकृष्ण के बाद बुद्ध, महावीर और शंकर और अन्य आचार्यों ने जो उपलब्धियाँ की उसके योगक्षेम का श्रेय इन भक्त संतों को है। जो गीता और वेदांत में था उसी का प्रतिबिम्ब इन भक्तों के भजनों में था।

भक्तों के यह पद यद्यपि भक्ति के हैं पर उन सरल पदों के द्वारा गूढ़ वेदांत की भी उन्होंने साधारण जनता को शिक्षा दी।

तुलसीदास ने तो चमत्कार कर डाला। घर-घर में राम कथा गुंज उठी।

एकनाथ ने राम-भक्ति के आवेश में कहा, “एकनाथ नारादनी भाव ही नीका जो देखो सो राम सरीखा”। कबीर ने वेदांत सुनाया—“आँख न मूँदों होसि-होसि सुंदर नय निहारो।” नानक कहता है—“अस्तुति निदा दोनो त्यागे खोजे पद निरवाना, कह नानक यह खेल कठिन है कोऊ गुरमुख पहिचाना” फिर कहता है—“पुष्प मध्य ज्यो वास बसत है मुकुर मध्य अस छाई, वैसे ही हरि बसै निरंतर घट ही खोजो भाई”, “काहे रे वन खोजन जाई”। नरसी मेहता कहता है—“स्नान पूजा तीर्थ दान वेद पाठ यह सब पेट भरने के परपत्र हैं। तत्व दर्शन के बिना ऐसा है जैसा रत्न चितामणि का खोना।” धीरा कहता है—“ज्यों जोऊँ त्यों तू ही तू है।”

इस तरह इन भजनों के द्वारा संतों ने भक्ति और वेदांत दोनों को जनता के हृदय में भर दिया। जन-धर्म की इस तरह रक्षा हुई।

यह एक अद्भुत अनहोनी घटना है जिसकी मिसाल इतिहास में ढ़ंढने पर भी मिलनी कठिन है।

इन सब भक्तों ने भक्ति और निर्वृत्ति पर जोर लगाते हुए भी भागवत धर्म को कमयोग अर्थात् निष्काम कर्म और भक्ति का सम्मिश्रण था, 'उसको जगाया। इस नयी जागृति का परिणाम यह हुआ कि वर्तमान समय में भारतीय दर्शन में कमयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग तीनों समान रूपों से आदर पाकर भारतीय जनता को एक दीप-शिखा का काम दे रहे हैं।

शंकराचार्य, रामानुज और अन्य आचार्य और सत भिन्न-भिन्न मतों के प्रचारक होते हुए भी समाज को सम्मिलित रूप से सही रास्ते पर ही ले आये। यह लोक-कल्याण की गहरी भावना का प्रत्यक्ष दर्शन है।

ठ्यासजी ने भागवत में सबसे बड़ी करामात यह दिखाई कि बुद्ध को अवतार मानकर और अश्वमेध को 'उच्च स्थान देकर मत-मतांतरों की कटुता का नाश कर दिया। यह भारतीय समाज का सबसे बड़ा उपकार हुआ। इस तरह

भारतवर्ष के आचार्यों और सतों के सम्मिलित प्रयास का यह फल है कि आर्य धर्म आज हजारों सालों के बाद भी पूर्णतया जीवित है, ज्वलत है और प्रकाशमान है। भारतीय संस्कृति की यह छिपी शक्ति हमारी आशाओं को बलवान बना देती है।

पर इतिहास में गोता लगाने का हमारा उद्देश्य नहीं है। तात्पर्य तो भागवत धर्म के मूल इतिहास और इसकी नयी प्रगति को प्रस्तुत करना और उसे समझना है।

भागवत भी भागवत धर्म का ही प्रवर्तक है। इसमें भक्तों की अनेक कहानियाँ हैं, भक्तों के और श्रीकृष्ण के अलौकिक चरित्रों का वर्णन है। यह सारा-का-सारा प्रयास उस समय के समाज के दबे मानसिक स्तर को सामने रखकर इस दृष्टि से किया गया है, कि जिससे व्यक्ति के हृदय में भक्ति की प्रबल जागृति हो, उनको स्वधर्म और स्वकर्म में संलग्न होने की प्रेरणा मिले और ईश्वर में उनकी प्रज्ञा बढ़े। भक्तों के लभावने विवरण इसी हेतु से ही आचार्यों ने सजाये हैं।

योग और वियोग

गीता में 'आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी'—इन सबकी ईश्वर की आराधना करनेवालों में गणना की है। यह सभी उपासक हैं, सभी अच्छे हैं। पर इनमें ज्ञानी को ही सर्वोत्तम कहा है। पर मनुष्यों में अधिक वर्ग तो 'आर्त' और 'अर्थार्थी' का ही होता है। जिसको क्लेश हो वही भगवान की भक्ति या तो अपने योग अर्थात् आवश्यकता पूरी करने के लिए अथवा तो क्षेम अर्थात् जो मिलता है उसकी रक्षा के लिए करता है। इन सबको भी गीता के आचार्य ने उदार बताया है। क्योंकि किसी भी उद्देश्य से क्यों न हो, ईश्वर का स्मरण करना हर हाल में भयस्कर ही है।

कुत्ती ने श्रीकृष्ण से कहा था, "कृष्ण, जब-जब विपत पड़ी, तब-तब हमने तुम्हें पुकारा और तुम आये, इसलिये हमको तो सुख से ज्यादा दुख ही प्रिय है।" ऐसी भी कथा है कि द्रौपदी ने कृष्ण को उलझना देकर कहा, "कृष्ण, जब कौरवों की सभा में मेरा अपमान हो रहा था, तब तुम देरी करके क्यों आये?" कृष्ण ने उत्तर दिया, "द्रौपदी, यह तो तुम्हारा ही दोष है। तुमने अपने पतियों या भीष्म इत्यादि पर भरोसा रखकर मुझे स्मरण ही नहीं किया। पर अंत में जब तुमने स्मरण किया तब तो मैं पहुँच ही गया।" आये "आधेनाम" इस तरह भक्ति का माहात्म्य बताया।

'आर्त' को भगवान की चाह रहती है, ज्ञानी तो लाखों में कोई एक बिरला ही होता है, इसलिये "अज्ञ" को बिना कुछ फल का प्रलोभन दिये भक्ति नहीं सिखायी जा सकती। भागवत और अन्य पुराणों में लभावने और अलौकिक वर्णनों का यही तात्पर्य है। भक्ति भी अंत में तो वासना का क्षय करके मनुष्य को ज्ञान निष्ठा की ओर ही खँच ले जाती है।

इसलिये व्यासजी ने चरित्रों के विवरणों में जान-बूझकर अतिशयोक्ति की है। उनको ध्येय था लोगों को सन्मार्ग में आकर्षित करना। अजामिल ने मात्र नारायण का नाम पुकारा था। वह जन्म-मर का पापी था, तो भी नाम के उच्चारण मात्र से उसकी मृत्यु के समय विष्णु के पार्श्व पहुँच गये और यमदूतों को मार-मारकर निकाल दिया। यह सब कथारें तर्क-सगत नहीं हैं। पर व्यासजी को तो मोउ देना था सामान्य लोगों के मानस को, इसलिये जो कुछ अलौकिक या तर्क-विरुद्ध कथारें भी लिखीं, वे सारी-की-सारी जन-कल्याण के लिए ही लिखी गयी हैं। इस रहस्य को हम अच्छी तरह समझ लें तो फिर समालोचना के लिए हमारे पास विशेष मसाला नहीं रहता है।

पर यह भी जानना चाहिए कि भागवत केवल अलौकिक या अतिशयोक्ति-प्रधान चरित्रों का ही ग्रंथ नहीं है। भागवत के गहरे अध्ययन में हमें यह स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि भागवत असल में तो भागवत धर्म का एक अमूल्य ग्रंथ है। गीता की तरह यह भी कर्म और भक्ति का समन्वय करके मनुष्य को अध्यात्म की ओर खँच ले जाता है। इस तरह गहराई में उतरने से पता चलेगा कि भागवत एक वेदांत का ही ग्रंथ है। इसमें गूढ़ अध्यात्म भरा है। भक्तों की कथा के बीच-बीच वेदांत का और कर्म और ज्ञान का एक ऐसा विशद सम्पुट जमा दिया है कि भक्तों की कथा पढ़ने के बहाने वेदांत का एक अटूट भण्डार भी मिल जाता है।

उदाहरण के लिए देवहूती और कपिल का संवाद लीजिए। कर्दम ऋषि की पत्नी का नाम था देवहूती। उसके पेट से ही प्रख्यात आचार्य कपिल का जन्म हुआ। कर्दम

अर्धरात्रि को कौपल के जन्म के बाद पूर्व-संकल्प के अनुसार वन-गमन कर गये और यहाँ कौपलजी अपनी माता देवदूती के पास निवास करने लगे। कुछ काल के बाद देवदूती की भी वरामय हुआ तो वह अपने पुत्र कौपल को महाप्रणम ज्ञान कर उसके पास साथी और कहन लगी कि “पुत्र, मैं ससार से विरक्त हो गयी हूँ। प्रबन्ध तू अपने उपदेश से भग्न महामोह दूर कर” इस पर कौपलजी ने अपनी माता को उपदेश देकर उसके मोहमाया को दूर किया।

यह पत्रचन मन्थन उद्दान और ज्ञानवद्धक है। अपनी माता को उपदेश देते हुए कौपल ने कहा, “हे माता! त्रिविधा की आसीकृत ही बधन है, पर त्रिविधा की आसीकृत सत्पुरुषा के सग से ही दूर होती है। सत्सग से ईश्वर में पात और भक्ति बढ़ती है। इससे वरामय होता है पार ईश्वर का साक्षात्कार होता है। आत्मा ही ईश्वर है। पातमा पार परमात्मा में कोई भेद नहीं है। आत्मा निर्गुण है। यह सब में समान है। विभक्त दिखायी देती है, पर अविभक्त है। यह प्रकृति से परे है। यह अकृता है। यह ईश्वर ही है। स्वतन्त्र है। सबका साक्षात् और केवल सुख स्वरूप है। यह द्वैत हमें अज्ञान से भासता है। जैसे जल के अंदर सूर्य का प्रतिबिम्ब जल से अलपत रहता है, वैसे ही आत्मा या परमात्मा मनुष्य के सुख-दुख और अन्य कर्मा से अलपत है। हे माता! इन्द्रियो को निग्रह करके भगवान् की भक्ति करो। फलासीकृत त्यागकर स्वधर्म का आचरण करो। उसे अग्नि को उत्पन्न करनेवाला अरणी स्वयं भी जलकर भस्म हो जाता है, वैसे ही भगवान् की भक्ति और निष्काम योग से तमाम वासनाएँ भस्म होकर अदृश्य हो जाती हैं। स्वधर्म का आचरण करो, जो भगवान् देता है उसमें सतोष मानो। पवित्र भाजन करो। अहिंसा इत्यादि सम-धर्मा का पालन करो।”

यहाँ पर यह विशेष ध्यान देना चाहिये कि कौपलजी ने कर्मयोग का विरोध नहीं किया है। उपदेश दिया है कि

‘स्वधर्म का निष्काम ब्रह्म से आचरण करो। इस तरह के उद्दान उपदेश से देवदूती का मोह दूर हो गया।

कौपल ने जो कहा उसमें कर्म, मोक्ष, ज्ञान तीनों का समन्वय है। इसके बाद कौपलजी भी वन चले गये।

पूर्व-चरित्र और रत्नदेव की कथाएँ भी इसी शर्णा में हैं। यह आत्मा का उद्दानवाली है। जो लोग भाँत से यह समझते हैं कि भागवत केवल रास-क्रीड़ा, चोरहरण-लीला, माखन की चोरी इत्यादि कथाओं से भरी है, उन्हें भागवत के वद्दान में इनकी लगानी चाहिये।

यह भी जानना चाहिये कि श्रीकृष्ण की बाल-लीला और रास-क्रीड़ा उसी काल तक सीमित है जब तक कि श्रीकृष्ण गोकुल में थे।

भागवतकार बताता है कि जब श्रीकृष्ण ने गोवद्धन उठाया तब व केवल सात ही साल के थे। कस-वध के समय भी हरिवंश के अनुसार उनका आय केवल सात ही साल की थी। रास-क्रीड़ा और चोरहरण-लीला इत्यादि उसी बाल्यावस्था की कहानीयाँ हैं, जो गोकुल में घोटत हुई। जिस राधा की कविता ने अपने पदा में इतनी गाथाएँ गायीं, उस राधा का भागवत में कहाँ नाम-निशान भी नहीं है।

आश्चर्य यह है कि भक्त कविता ने जो भी श्रीकृष्ण पर पद बनाये और जो सद्गियों से गाये जा रहे हैं, वे सब उसी काल के होते हैं, जबकि श्रीकृष्ण गोकुल में थे। “अब की बर पार करो नन्द के दलारे” “बसो मेरे नैनन में नन्दलाल” “राधे राधे श्रीवर प्यारे” “रोसी प्रीति बढ़ी, वृन्दावन गाँपन नाच नचाई” मोरा कहती है, “सावलिखा वर पाना” नन्ददासजी कहते हैं, “नन्ददास के जीवन गिरधर गोकुल गाव को कवर कन्हाई” जयदेव विरचित पद भी प्रमना, गोकुल और वृन्दावन में गोपियों का ही राग गाते हैं। यह सारी रचनाएँ ब्रजवासी कृष्ण की प्रशंसा में हैं।

गोकुल छोड़ने के बाद का श्रीकृष्ण का चरित्र तो कवियों के पदों में से प्रायः लुप्त-सा ही हो गया। 'मोर मुकुट मकराकृत कूडल,' 'बंसी,' 'माखन की चोरी,' यह सब श्रीकृष्ण गोकुल में ही छोड़ आये। गोकुल से चले जाने के बाद मालूम होता है श्रीकृष्ण ने नन्द, यशोदा, गोप-गोपियों और ब्रज के सारे जीवन को बिसार ही दिया। तो भी कवियों ने गोकुल-जीवन को ही भक्ति-पदों में क्यों प्राधान्य दिया? इसका रहस्य समझाया नहीं जा सकता।

कंस को मार देने के बाद वसुदेवजी ने श्रीकृष्ण को क्षत्रियोचित धर्म के अनुसार उनका द्विज संस्कार कराया। काफी उत्सव मनाया गया। दान बिखेरा गया, ब्राह्मणों को भोजन कराया गया और इसके बाद दोनों भाइयों को विद्याभ्यास के लिए सांदीपन गुरु के गुरुकुल में भेजकर वेद-वेदांग, काव्य और अन्य सारे शास्त्र पढ़ाये गये। ग्वाल-जीवन, ग्वाल-परम्परा, ग्वालों की सामाजिक परिपाटी यह सब मथुरा जाते ही समाप्त हो जाती है, और एक नया अध्याय क्षत्रिय जीवन का शुभ हो जाता है। इस तरह पूर्व जीवन पर एक पटाक्षोप हो जाता है। ब्रज सम्पूर्ण विस्मृति में पड़ जाता है।

दीर्घकाल के बाद एक बड़ा सूर्य-ग्रहण हुआ था। इस ग्रहण के अवसर पर सारे देश के लोग कुरुक्षेत्र में यात्रा के लिए आये थे। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी आये थे। कृती और पाँचो पांडव भी वहाँ आये थे। पर एक विशेष घटना यह घटी कि नन्द, यशोदा तथा अन्य ब्रजवासी लोग भी वहाँ आये। जब इनको पता लगा कि श्रीकृष्ण भी आये हैं तो दीर्घकाल के बाद फिर ब्रज के लोगों से कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण

का समागम हुआ। यह एक अतीत को फिर से ताजगी देने-वाली घटना थी। इस अवसर पर पुरानी स्मृतियाँ फिर जागृत हुईं। पर श्रीकृष्ण इन स्मृतियों से उदासीन रहे। उन्होंने गोपियों से कहा कि "गोपियो, मैं तो गोकुल छोड़ने के बाद इतना व्यस्त रहा हूँ कि फिर गोकुल आना ही मेरा असंभव हो गया। इसका मुझे खेद है।" उन्होंने सबकी कुशलमगल पूछी। गोपियों ने भी कुछ क्रोध-भरे वचन कहे, पर श्रीकृष्ण को पुरानी स्मृतियाँ आकर्षित नहीं कर सकी। उन पर अतीत का कोई असर नहीं हुआ। गोपियों को सम्बोधन करते हुए उन्होंने कहा, "गोपियो, योग और वियोग यह सब ईश्वर की इच्छा के आधीन है। ईश्वर ही सुख और शान्ति का कारण है। बाह्य शरीर मिथ्या है। असल में तो इसके भीतर जो आत्मा है वही सत्य और अनित्य है। प्राणी-मात्र में एक ही सत्य सर्वदा वर्तमान है। एक प्राणी दूसरे से अभिन्न है। आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। इस रहस्य को जानने के बाद न तो मनुष्य को संयोग है, न वियोग, क्योंकि जो अविभक्त है, उसका वियोग कैसा? इस सत्य को जानना और समझना ही परम पुरुषार्थ है। तुम क्यों मानती हो कि तुम्हारा-हमारा वियोग हो गया।"

ऐसे ज्ञानयुक्त वाक्य सुनकर गोपियों भी पुरानी घटनाओं को भूल गयीं। गोपियों को ज्ञान तो दिया, पर ब्रज की पुरानी लीलाओं का इस सम्मेलन में श्रीकृष्ण ने जिक्र तक नहीं किया। न ही पुरानी स्मृतियों ने श्रीकृष्ण को आकर्षित किया। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं का गोकुल छोड़ते ही अन्त हो जाता है। यह विशेष समझने की बात है।

वेद ज्ञान है तथा आत्मा विज्ञान

श्रीकृष्ण के जीवन का हेतु था भूमि-भार उतारना अर्थात् असाधुओं का नाश करना, साधुओं की रक्षा करना और धर्म का पुनः संस्थापन करना। पुराणों का कथन है कि भूमि का भार उतारने के लिए भगवान् समय-समय पर अवतार लेते हैं। जब-जब बलियों का बल बढ़ जाता है और बलिष्ठ लोग उस बल का दुरुपयोग करके प्रजा को क्लेश देने लगते हैं तो वह पाप-कृत्य भूमि का भार बन जाता है। प्रजा के उस सताप को मिटाना ही भूमि का भार हलका करना है।

रावण के घास को मिटाने के लिए राम ने अवतार लिया। कंस, जरासंध, शिशुपाल, दुःशासन, शकुनि, दुर्योधन और ऐसे-ऐसे अनेक अत्याचारियों के अत्याचारों से भूमि का भार बढ़ गया था। श्रीकृष्ण का जीवन इन अत्याचारियों को समाप्त करने में ही बीता। अत्याचारियों की समाप्ति के साथ-साथ अत्याचार भी समाप्त होता है। किंतु बुरों के साथ भीष्म, द्रोण, कर्ण इत्यादि भलों का भी अंत हुआ। पर भीष्म, द्रोण स्वयं भी अपना अंत चाहते थे। 'मेहें के साथ घुरा भी पिस जाता है'—यह स्वाभाविक नियम है। दुर्योधन की सगत का फल भीष्म जैसे तपस्वी को भोगना पड़ा। भीष्म, द्रोण, कर्ण—यह सब महापुरुष थे। पर यह सब धर्म-संकट में ग्रसित थे। मन पांडवों की ओर था, शरीर दुर्योधन की ओर। लड़ाई कौरवों के पक्ष में लड़े, पर विजय पांडवों की चाहते थे। इसलिये इनका जीवन दुःखमय था। इसलिये यह सब साधु अपना अंत चाहते थे। और इस अंत को बुलाने में इन सबने कृष्ण को सहयोग दिया। यह एक अद्भुत बात है, पर महाभारत ग्रंथ भी तो अद्भुत है और इसकी यही एक अपूर्वता है। महाभारत युद्ध में इस वृष्टिकोण से भूमि का भार काफी हलका हो गया। अत्याचार और अत्याचारियों को

जबरदस्त ठेस लगी। अत्याचारियों की सगतवालों का भी अंत हुआ।

पर द्वारिका में यादवों का बल महाभारत युद्ध के बाद भी क्षीण नहीं हुआ। उनके बल के कारण उनकी युवा पीढ़ी में उच्चृंखलता, अहंकार, अत्याचार की भावना बनी ही रही। मदिरा में मतवाला होकर यादव-समाज पाप-पुण्य के भेद को ही भूल गया। प्रजा पर अत्याचार जारी था। श्रीकृष्ण सब-कुछ जानते थे। उन्होंने यह भी समझ लिया कि यादव-कुल भी मिटेगा, पर यादवों का नाश आपस में लड़-झगड़कर हो होगा। क्योंकि बलिष्ठ यादवों का नाश करनेवाली शक्ति यादव-कुल के बाहर दूँदने पर भी वृष्टि में नहीं आती थी। यह शक्ति यादव-कुल के भीतर ही समाविष्ट थी। और ऐसा ही हुआ। आपस में लड़-झगड़कर यादव भी नष्ट हो गये।

जब यादवों का अंत हो गया तो श्रीकृष्ण ने समझ लिया कि उनके जीवन का हेतु भी समाप्त हुआ। यादव-कुलह के बाद श्रीकृष्ण को लगने लगा कि अब वे भी अधिक काल तक शरीर नहीं रखेंगे। उन्होंने भी जाने की तैयारी कर ली। इसका विवरण आगे फिर आयेगा। उद्धव को श्रीकृष्ण के इस संकल्प का पता लगा और वह खिन्न होकर उनके सामने गया, तब उन्होंने एक अत्यंत सारगर्भित उपदेश उद्धव को दिया। वह प्रत्येक मुमुक्षु को पढ़ने और ग्रहण करने योग्य है।

श्रीकृष्ण ने कहा, “उद्धव! इस संसार में मेरा कार्य-काल अब समाप्त हो चुका है। आज से सात दिनों के बाद यादव-वंश का नाश हो जायेगा और द्वारिका भी समुद्र में डूब जायेगी। इसलिये मेरा परामर्श है कि मेरे देह-त्याग के पश्चात् तू दीर्घ-काल तक एक स्थल पर नहीं रहना। सर्व

आसक्तियों को छोड़कर, समर्पित होकर, पृथ्वी पर विचरणा करते रहना। 'उद्धव, इंद्रियो से जो जगत दृश्यमान दीखता है, वह केवल मनोमय है और नाशवंत है। जगत अद्वैत है, इसलिए जो भेद दीखता है वह भ्रम है। इंद्रियो को वश में करके अपनी आत्मा में ही इस सारे जगत को स्थित जान और आत्मा को ही ईश्वर समझ। वेदों के तात्पर्य को समझना यह ज्ञान है, पर आत्मा का अनुभव करना यह विज्ञान है। इसके अनुभव के बाद मनुष्य को कोई विघ्न नहीं सताता।'

उद्धव ने कहा, "भगवन्। मैं परिवार में आसक्त रहा हूँ इसलिए आपने जो आचरण बताया वह मेरे लिए कठिनतर है।" इस पर श्रीकृष्ण ने उद्धव को एक लंबा प्रवचन दिया और कहा कि तुम दत्तात्रेय की तरह अपने आप ही गुरु बनकर संसार से शिक्षा ग्रहण करो, स्वधर्म का निरंतर पालन करो, निष्काम होकर वर्ण, आश्रम और कुलधर्म को कर्तव्य समझकर निरंतर करते रहो। काम्य कर्मों का त्याग करो, पर अन्य स्वधर्मोचित कर्मों को मेरा आश्रय लेकर करते जाओ। मुझमें परायण होकर यम-नियमों का पुरातया पालन करो। यज्ञ-यागों का फल स्वर्ग-प्राप्ति बताया गया है, पर यह सारा नाशवान है इसलिए उनसे मन को उपराम करना चाहिए। यदि मन पर तुम्हारा सयम दृष्टकर

लगे तो भक्ति-भाव से मेरी उपासना करो। इसके द्वारा तुम्हारा मन पर अधिकार बदेगा। मेरे निमित्त ही जीवन को धारण करो अर्थात् परोपकार के लिए ही कर्म करो। विषयों का त्याग सत्संग से होता है। आत्मा को परमात्मा जानकर उसी में मन को स्थित करो। इसी से तुम्हें विवेक होगा, और तुम बंधनों से मुक्त हो जाओगे। तृणारहित रहो और निस्पृह बनो। अनेक साधनों में भक्ति का ही विशेष माहात्म्य है।"

इस तरह के विविध उपदेशों द्वारा उद्धव के मन को शांत करके भगवान् ने कहा, "उद्धव। अब तुम बदरिकाश्रम जाओ, वहाँ जाकर निस्पृह होकर रहो, शीत-उष्ण सहन करो, स्वभाव को सत्त्व में स्थित करो, चिंतन करो, मनन करो। इस प्रकार सर्व-दुखों से तुम मुक्त हो जाओगे।" उद्धव अनेक प्रणाम, नमस्कार करके भगवान् से विदा लेकर बदरिकाश्रम चला गया। श्रीकृष्ण का यह उदात्त विस्तृत प्रवचन मनन, चिंतन और आचरण करने योग्य है।

ऐसे संवाद पढ़ने के बाद भागवत का अध्ययन करनेवालों को पता लगेगा कि भागवत रास-क्रीड़ा या बाल-लीला का ग्रंथ नहीं पर मुख्यतया वेदांत का ग्रंथ है। लीलार्थ केवल रोगन है जो सामान्य लोगों को आकर्षित करने के लिए वेदांत पर लपेटा गया है।

नाम के सहारे तिर गये लाखों

भारतीय पद्धति के अनुसार साहित्य में रोचक, भयानक और यथार्थ विवरणों का प्रयोग किया जाता है। व्यासजी की यह कारीगरी है कि उन्होंने रोचक कथाओं का प्रयोग करके उनके भीतर गूढ़ वेदांत का रहस्य भर दिया है। इसके द्वारा जन-समाज को भक्ति की ओर प्रेरित करके उनकी धार्मिक श्रद्धा को उत्तेजना दी है, और साथ-साथ वेदांत की भी शिक्षा दे डाली है। जिनको अध्यात्म में रुचि है वे इन अलौकिक कथाओं की अवहेलना भी कर सकते हैं या तो जैसे मिट्टी में से सोना संचय किया जाता है, उसी तरह इन अलौकिक कथाओं के भीतर छिपे रहस्यों का संचय भी कर सकते हैं। आचार्य किसी को बाध्य नहीं करता कि वे वेदांत की अवहेलना करें और केवल अलौकिक कथाओं को ही पढ़कर इन अतिशयोक्तियों की समालोचना करें। थाली में अनेक साम-झियाँ सजाकर रखी गयी हैं, अनेक तरह के भोजन हैं, सबके सब मंगलदायक हैं। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भक्त भागवत में से भोजन निकालकर उसके रस का आस्वादन कर सकता है।

मैंने कहा है कि भागवत के श्रीकृष्ण आराध्य, उपास्य और पूज्य हैं। भागवत के कृष्ण केवल भक्ति के लिए हैं। अनुकरण उनका असंभव है क्योंकि श्रीकृष्ण ईश्वर हो तो फिर ईश्वर का अनुकरण कोई कैसे कर सकता है। “कृष्णस्तु भगवान् स्वयं।” भगवान् का अनुकरण कैसे? ईश्वर की तो उपासना ही हो सकती है।

पर महाभारत के कृष्ण पूज्य तो हैं ही, अनुकरणीय भी हैं। संसार की जटिल समस्याओं को सुलभाने में महाभारत के श्रीकृष्ण का चरित्र हमें सम्पूर्ण सहायता देता है। श्रीकृष्ण ने स्वयं गीता में अपना अनुकरण करने के

लिए हमें प्रोत्साहन दिया है।

महाभारत के श्रीकृष्ण महापुरुष हैं, नीति-विशारद हैं और उस काल की शब्दावली में उन्हें योगेश्वर, बुध, धीर, कवि, प्राज्ञ और पांडित के विशेषण दिये गये हैं। ‘यत्र योगेश्वरो कृष्ण’। इसलिये महाभारत के कृष्ण-चरित्र का अत्यंत महत्व है। उनका जीवन-चरित्र, उनका अनुकरण, उनके उपदेश संसार-यात्रा के यात्रियों के लिए अत्यंत बोध-प्रद हैं। उन्हें समझना और ग्रहण करना, उन पर आचरण करना और कठिन समस्या उपस्थित होने पर उनका अनुकरण करने का प्रयास करना—यह मनुष्य की संसार-यात्रा को सरल बना देता है।

यह सारा कथन अत्यंत महत्व का इसलिये है कि भगवान् आसक्ति त्यागकर और लोक-संग्रह के लिए हर हालत में हर मनुष्य को स्वधर्म का आचरण करने की शिक्षा देते हैं।

वैदिक यज्ञ मात्र कर्म-कारण, विशेषतया पशुबलि और सोमरस की क्रियाओं, से आकर्षक रखे गये थे, और निष्काम कर्म को गौण स्थान दिया गया। उधर सांख्यो का कर्म-संन्यास पर आग्रह था। इन दोनों रास्तों से जनता को हटाकर सही मार्ग पर लाने के लिए ही श्रीकृष्ण ने भागवत धर्म को पुनः जागृत किया। भागवत धर्म, निष्काम कर्म-योग और भक्ति दोनों का सम्मिश्रण है और गीता का यही मुख्य विषय है। इस लुप्त धर्म को पुनः जागृत करने के संबंध में भगवद्गीता में भगवान् ने अर्जुन को अत्यंत स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यह ‘योग’ अर्थात् यह भागवत धर्म कर्मयोग जो मैं तुम्हें बता रहा हूँ वह नया नहीं है।

“यदि ह्यहं न वर्तेय जातु कर्मण्यतन्द्रितः

मम वहर्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः”

मेरे लिए तो जो लोक में कोई भी कार्य बाकी नहीं रहा है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो मुझे प्राप्त नहीं है और जो कर्म करने से ही मुझे मिलेगी। तो भी मैं निरंतर कर्म करता ही रहता हूँ। क्योंकि यदि मैं प्रमाद और भ्रालस्य छोड़कर कर्म न करूँ तो लोग मेरा अनुकरण करके स्वयं भ्रालसी बन जायेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि संसार का नाश हो जायेगा। प्रजा का पतन होगा। इसलिए जिस तरह ब्रह्म लोग आसक्त होकर कर्म करते हैं वैसे ही विद्वानों को आसक्ति त्यागकर कर्म करना चाहिए। जो लोग ब्रह्मानी हैं उन्हें भ्रम में डालकर उनके कर्तव्य से उन्हें विचलित नहीं करना चाहिए। यहाँ अपने आपका अनुकरण करने का भगवान् निमंत्रण देते हैं।

यह भी कहा कि पूर्व काल में मैंने यही योग विवस्वान् को बताया था और विवस्वान् ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को बताया था। यह परंपरा चली आ रही थी, पर समय पाकर यह लुप्त हो गयी। इसी प्राचीन योग को मैं आज तुम्हें बता रहा हूँ, क्योंकि तुम मेरे मित्र हो और भक्त भी हो। इस लुप्त भागवत धर्म को पुनर्जीवित करने की यह कथा स्पष्ट है।

यहाँ अर्जुन के लिए श्रीकृष्ण ने सखा और भक्त दोनों शब्दों का उपयोग किया है। श्रीकृष्ण ने ईश्वर के अवतार की तरह अर्जुन को सम्बोधित नहीं किया है। एक मित्र की तरह आदेश दिया है। न अर्जुन ने कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानकर उसके अनुसार सम्बोधन किया है। अर्जुन ने भी कृष्ण को मित्र मानकर ही उसके आदेश को सुना है। सारे महाभारत के अध्ययन से पता लगेगा कि पांडव और श्रीकृष्ण का सारा संबंध कौटुंबिक रहा है। बातचीत और व्यवहार सारा मित्रवत और परिवार का-सा रहा है। जब-जब विपत्ति आयी, श्रीकृष्ण पांडवों के पास पहुँच गये, उन्हें

व्यावहारिक परामर्श दिया और उनकी सहायता भी की।

श्रीकृष्ण ने पांडवों से वादा कर रखा था कि जब आवश्यक हो बिना संकोच मुझे बुला भेजना। महाभारत के कृष्ण का व्यवहार पांडवों के साथ मित्र का-सा रहा, योगेश्वर की तरह उन्होंने बर्ताव नहीं किया। भागवत और महाभारत के कृष्ण का यह भेद अत्यंत महत्व का है जो समझना आवश्यक है।

पर वास्तव में श्रीकृष्ण चाहे भागवत के हो या तो महाभारत के, भक्ति-मार्ग के पथिकों के लिए तो वे हर हालत में उपास्य ही रहे हैं। राम और कृष्ण के निरंतर नाम-स्मरण ने मुमुक्षुओं और साधकों को बलवान् सहारा दिया है। श्रीकृष्ण ने अपना अनुकरण करने का जन-समाज को निमंत्रण तो दिया, पर जनमत ने इसको विशेष महत्व नहीं दिया। यह अनुकरण उन्हें वित्तशायी लगा, और भक्ति मार्ग ही उन्हें सरल लगा। इसलिए उनको साक्षात् ईश्वर मानकर ही कृष्ण को उपास्य रखा है।

पर कृष्ण के जीवन की अवहेलना करके केवल नाम-स्मरण करना कुछ अंश में भूल होगी। यह जानना चाहिए कि भक्ति कर्मयोग के बिना निष्फल है और कर्मयोग भक्ति के बिना बेकार है।

अंत समय राम-राम कहकर मरना यही साधकों का ध्येय रहा। गांधीजी ने भी ‘हे राम’ कहकर प्राण छोड़ा। गांधीजी भक्त थे, पर कर्मयोगी भी थे।

यह एक अद्भुत चमत्कार है कि राम-कृष्ण का कोई इतिहास नहीं पृथक्। गोकुल में श्रीकृष्ण ने रास-लीला की या रास-पंचाध्यायी ने क्या कहा है, इससे भक्तों को कोई लेना-देना नहीं है। न इस संबंध में भक्तों ने कोई शंका उठायी। नरसिंह मेहता कहता है कि कृष्ण के बिना सब-कुछ मिथ्या है। तुकाराम, मीराबाई और अन्य भक्त भी यही कहते हैं। नाम के सहारे लुखो तिर गये और करोड़ों भविष्य

में संसार-सागर को पार कर जायेंगे। यह श्रद्धा की एक अनहोनी घटना है। यह एक चमत्कार है, यह सारा श्रद्धा का माहात्म्य है।

भगवान ने बताया है कि जब-जब धर्म का ह्रास होता है, तब-तब मैं देह धारण करके धर्म की पुनः स्थापना करता हूँ। इसका तात्पर्य यह है कि जब-जब समाज नीचे की ओर लुढ़कता है, तब-तब उस बिगड़ती हुई स्थिति को सुधारने

के लिए कोई एक विशेष शक्ति उद्भव होती है, जो गिरते हुए समाज को फिर से ऊपर उठाती है।

श्रीकृष्ण के बाद बुद्ध, इसके बाद आदि-शंकर और उसके पश्चात् अन्य आचार्य और भक्त पैदा हुए। आधुनिक काल में गांधी के रूप में भी एक देवी शक्ति का विकास हुआ और गिरती हुई नैतिक अवस्था को उस शक्ति ने फिर से ऊँचा उठाया।

शक्तियों का प्रादुर्भाव स्वयंसिद्ध

राम और कृष्ण को ईश्वर का अवतार माना गया है। पर सही अर्थ में तो हर मनुष्य ईश्वर का ही अवतार है। हर प्राणी का जन्म एक विशेष हेतु को लेकर होता है। ईश्वर को जिससे जो काम कराना होता है उसे वह अपना निमित्त बना लेता है। “निमित्त मायं भव सव्यसाची।” सब कुछ मैंने निर्धारित कर रखा है, तू निमित्त बन जा। उस निमित्त के लिए ही प्राणी का जन्म होता है।

किंवदंती है कि भगवान् कृष्ण सोलह कला के अवतार थे, पर श्रीराम आरंभ में बारह ही कला के थे। सीता-स्वयंवर के बाद परशुरामजी से राम का जो वाद-विवाद हुआ उसके अनंतर परशुरामजी की चार कलाएँ श्रीराम में समा गयीं। इस तरह श्रीराम सोलह कला के सम्पूर्ण अवतार हो गये और परशुरामजी कला-विहीन होकर तप करने वन में चले गये। इन सब रोचक कथाओं में गूढ़ अर्थ छिपे हैं। तात्पर्य यह है कि हर प्राणी आशिक रूप में ईश्वर का अवतार ही है, चाहे वह एक आशिक कला का हो या सम्पूर्ण सोलह कला का हो। वह एक हेतु लेकर आता है और जब उसका कार्य समाप्त हो जाता है तब ईश्वर उसे उठा लेता है।

मनुष्य तो क्या प्राणीमात्र उसी एक परमेश्वर के अवतार हैं, क्योंकि समस्त विश्व में ‘दो’ नहीं केवल ‘एक’ ही है, और यह सारा चराचर नामरूप का जगत् अनेक रूपों में ‘विभक्त’ दिवायी पड़ने पर भी वास्तव में एक ‘अविभक्त’ है। केवल चराचर जगत् ही क्यों, सृष्टि क्रियाएँ और विचार भी उस एक ही परब्रह्म के अंतर्गत हैं।

गीता ने कहा है कि ‘ब्रह्मार्पणम् ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्निं ब्रह्मणाहुतम् ब्रह्मैव तेन गतव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना।’

जो अर्पण कर्म है वह भी ब्रह्म है, सामग्री भी ब्रह्म है,

हवन की अग्नि भी ब्रह्म है और हवन करनेवाला भी ब्रह्म है। इसी विचारधारा के अनुसार यह भी कहा जा सकता है कि यह कागज, स्याही, लेख और लिखनेवाला सभी ब्रह्म हैं।

आगे चलकर अपनी विभूतियों का वर्णन करते समय भी भगवान् ने इसी भावार्थ का कथन कहा है कि पाँडवों में धनंजय मैं हूँ और यादवों में कृष्ण मैं हूँ। स्थावरो में हिमालय, झोटों में गंगा और सरोवरों में सागर मैं ही हूँ। जल में छल मैं हूँ, मच्छियों में मगरमच्छ मैं हूँ। संक्षेप में कथन यह है कि यह सारा विश्व एक ही ब्रह्म से व्याप्त है। ईश्वर के अलावा इस विश्व में न तो कोई रिक्त स्थान है, न इससे भिन्न कोई वस्तु ही है। इस विचारधारा की गहराई में जब हम उतरते हैं तो समझ में आ जाता है कि जब ईश्वर से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं, उसके बिना कोई स्थान खाली है ही नहीं, तो फिर कौन तो अवतार और कौन अवतार के भक्त। सब एक ही सत्ता है।

पर अव्यक्त की यह भक्ति दुष्कर है। अव्यक्त यह इंद्रियगम्य नहीं है। श्रीकृष्ण ने गीता में इसीलिए कहा कि अव्यक्त की भक्ति कठिन है। इसीलिए साधकों ने ईश्वर को शरीरधारी बनाकर अपने अभ्युदय के लिए ही यह सरल मार्ग अपनाया। हालाँकि गीता ने यह भी कहा है कि मोह के वश ही प्राणी मुझे देहधारी मानते हैं।

इतने पर भी इस देहधारी अवतार की भक्ति में बुद्धि-भेद करने की स्वयं भगवान् ने भी मनाही की है। क्योंकि अज्ञो की बुद्धि-भेद करने से भ्रष्टा दीली पड़ जाने की संभावना है।

कृष्ण ने कहा, “द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च करां तथा न्यानीपियोध वीरान् मया हतां सत्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युद्धस्व जेतोऽसुराणो सप्ततान्।” द्रोण, भीष्म आदि को सबको

मैंने पहिले ही मार दिया है, तुम चिन्ता मत करो। लड़ो। रण में तुम अवश्य जीतोगे।

इसका तात्पर्य यह नहीं था कि देवकीनन्दन कृष्ण ने इन महारथियों को युद्ध के पहिले ही समाप्त कर दिया था। कृष्ण ने यह भी कहा कि “जब-जब धर्म की ग्लानि होती है तो दुष्टों के दमन के लिए और साधुओं की रक्षा के लिए मैं अपने-आपको सृजता हूँ।” यहाँ भी ‘मैं’ का व्यापक अर्थ ही लेना चाहिए। यह सब ‘मैं’ के वाक्य देवकीनन्दन श्रीकृष्ण के हैं सही, पर इन सब वाक्यों के पीछे जो शक्ति है वह देवकीनन्दन कृष्ण की नहीं, पर विश्वरूप परमेश्वर की है।

समय-समय पर इस ‘मैं’ का उपयोग करने में श्रीकृष्ण केवल एक विराट् विश्व का प्रतिनिधित्व मात्र कर रहे थे।

जब भगवान ने कहा कि मैं धर्म की स्थापना करने के लिए और साधु पुरुषों की रक्षा करने के लिए अपने-आपको सृजता हूँ तो इसका भी गूढ़ार्थ लेना चाहिए। दुष्टों के दमन के लिए भगवान अपने-आपको सृजते हैं, इसके लिए इस परमेश्वर को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। इस विश्व का विधान ही ऐसा बन गया है कि सूर्य, चंद्र, तारागण अपना काम अपने-आप ही करते रहते हैं। उसके पीछे कोई प्रयास नहीं है।

शीत-काल में जब तापमान उग्र हो जाता है और आकाश से अग्नि की वर्षा होने लगती है तो उस क्रिया की प्रतिक्रिया होती है और ईश्वर के विधान के अनुसार वर्षा का आगमन होता है। ईश्वर को वर्षा पहुँचाने के लिए कोई आज्ञा नहीं देनी पड़ती।

इसी तरह जब अधर्म बढ़ता है तो उस क्रिया की प्रतिक्रिया में किसी एक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है जो अधर्म को मिटाकर धर्म की स्थापना करती है। यह विधि का

चक्कर अपने-आप चलता है। इसीलिए जब भगवान ने कहा, “मैं अवतार लेता हूँ,” तो इसका गूढ़ अर्थ यही है कि इस विधि-विधान के अनुसार पाप की क्रिया के प्रतिकूल एक दूसरी क्रिया उत्पन्न होती है जो पाप का नाश और धर्म की रक्षा करती है। पाप को नाश करनेवाली एक शक्ति अपने-आप प्रादुर्भाव होती है। विश्व का यह नियम अपने-आप चलता है। इसीलिए जब भगवान ने कहा कि, “मैं अपने-आपको सृजता हूँ,” तो उसका गूढ़ और व्यापक अर्थ यही है कि प्रकृति का नियम स्वयं-सिद्ध है जो एक शक्ति को विशेष हेतु के लिए जन्म देता है। ईश्वर को इसके लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता।

श्रीकृष्ण ने जब यह कहा कि मैंने यह कर्मयोग विवस्वान को बताया था, उसने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को बताया, जो कालांतर में लोप हो गया था और उसे ही मैं अब फिर बताता हूँ, तो वहाँ भी ‘मैं’ से संकेत विश्वरूप ब्रह्म से ही था।

अर्जुन ने इस पर पूछा भी कि “आप जो कह रहे हैं यह कैसे संभव है क्योंकि वे सब तो आपसे पहिले ही जन्म चुके थे, उस समय तो आप पैदा भी नहीं हुए थे।” तब कृष्ण ने बताया कि “तुम्हारे और मेरे अनेक जन्म हो चुके हैं, उन सबको तुम नहीं जानते। मैं ही जानता हूँ।” अर्थात् ईश्वर पहिले था, अब है और भविष्य में रहेगा। उसी की सृजन की हुई विशेष शक्ति किसी एक हेतु को पूरा करने के लिए उत्पन्न होती रहती है और नियत काम करती रहती है। यह शक्ति पहिले भी प्रादुर्भाव हुई थी, अब फिर हुई और भविष्य में भी आवश्यकता पड़ने पर होगी।

“ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति”—ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है। कृष्ण ब्रह्मवित् था। इसीलिए ब्रह्मस्वरूप ही था। इस अर्थ में यदि आप और हम भी ब्रह्मवित् हो जायें, तो हम भी ब्रह्म के पद पर प्रतिष्ठित होकर जिस भाषा में कृष्ण

बोल रहा था उसी भाषा में बोल सकते हैं। ब्रह्मवित् होने पर न केवल कृष्ण, बल्कि हम सब ईश्वर के अवतार माने जा सकते हैं।

स्वामी चिन्मयानंदजी ने एक अजीब पृथक्करण प्रणाली का किया है। सभी ईश्वर के अवतार तो हैं, पर जो तमोगुणी माया से आच्छादित हैं और तामस आवरण से ढके हुए हैं वे सब पार्श्विक मनुष्य हैं। जो राजस मूल से ढके हैं वे मानुषी मनुष्य हैं। पर जो सत्व में स्थित हैं वे ईश्वरीय मनुष्य हैं। ईश्वरीय मनुष्य ही अवतार हैं—चाहे वह कृष्ण हो या अन्य सत्वगुणी मनुष्य हो।

गीता ध्यान में व्यासजी ने कृष्ण की स्तुति करते समय “कृष्णं वंदे जगद्गुरुं” इस संबोधन से वंदना की। और संजय ने कृष्ण को योगेश्वर बताया। इस तरह कृष्ण ब्रह्मवित् होने के नाते जगद्गुरु और योगेश्वर के अतिरिक्त शरीरधारी होने पर भी ब्रह्म ही थे। जो ब्रह्मवित् हैं उसको यह अधिकार हो जाता है कि वह कहे “अहं ब्रह्मास्मि।”

शास्त्र भी कहता है कि “तत् त्वं असि”।

इस दृष्टि से कृष्ण शरीरधारी होने पर भी ब्रह्मवित् होने से ईश्वर था। हम भी ब्रह्म को जान लें तो ईश्वरीय

अवतार बन जाते हैं। यह अवतार का व्यापक अर्थ जानना चाहिए।

पर यह सब महज वारणी-विलास का विषय नहीं है। जिसको इसकी अनुभूति हो वह ही ‘अहं ब्रह्मास्मि’ कह सकता है। अनुभूति न हो तब तक तो ‘नमः शिवाय’ ही है। अनुभूति होने पर ‘शिवोऽहम्’ हो जाता है।

इस विभक्त को जब हम अविभक्त देखते हैं और सारे विश्व को अपने ही अंतर्गत अनुभव कर लेते हैं तब जो वाक्य कृष्ण ने कहे वह हम भी कह सकते हैं कि हिमालय या मगरमच्छ या पीपल का वृक्ष सब मैं ही हूँ।

पर ऐसा अधिकारी होने पर किसी तरह का कथन बनता ही नहीं। ऐसी अनुमतिवाले का मौन ही ‘ईश्वरत्व’ प्रकट करता है।

बताना यह है कि दृश्य-अदृश्य सभी ईश्वर के अवतार हैं। कृष्ण से हम भिन्न नहीं हैं। कृष्ण हमसे भिन्न नहीं। लहर समुद्र से भिन्न नहीं। समुद्र लहर से भिन्न नहीं। लहर कह सकती है कि समुद्र भी मैं हूँ। कनक और कुंडल एक ही वस्तु हैं। अनेकों में से एक देखने से हम भी ईश्वरत्व प्राप्त कर लेते हैं।

हेतु से ही अवतरण तथा विसर्जन

जैसा कि पहिले बता चुके हैं, श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों पूर्व जन्म के ऋषि बताये गये हैं। इन दोनों ने एक हेतु के लिए ही अवतार लिया और उस हेतु की सिद्धि के पश्चात् दोनों ने ही देह-विसर्जन किया।

इसकी पुष्टि में महाभारत में एक अत्यंत रोचक कथा है। युद्ध-समाप्ति के बाद विजेता पांडव दुर्योधन के शिविर में गये। प्राचीन पद्धति यह थी कि विजय के बाद विजेता पराजित शत्रु के शिविर में जाकर एक रात्रि निवास करते थे। इसी पद्धति का अनुसरण करने के लिए सारे पांडव श्रीकृष्ण के साथ दुर्योधन के शिविर में शंख ध्वनि करते हुए पहुँचे। वहाँ पहुँचने पर श्रीकृष्ण ने सब पांडवों से शांत होकर खड़े रहने का आदेश दिया और अर्जुन से कहा—“अर्जुन, तुम अपना गांडीव और सारे शस्त्र लेकर रथ से नीचे उतरो।” अर्जुन की समझ में नहीं आया कि क्यों श्रीकृष्ण उसे रथ से नीचे उतरने को कह रहे हैं। पर फिर भी आज्ञा मानकर वह रथ से उतर गया। उसके उतरने के बाद श्रीकृष्ण भी घोड़ों की लगाम और चाबुक छोड़कर उस सोने के रथ से उतर गये। जो ही श्रीकृष्ण रथ से नीचे उतरे कि हनुमान, जो रथ की ध्वजा में उपस्थित था, आकाश में उड़ गया और अर्जुन का रथ अग्नि से प्रज्वलित होकर भस्मीभूत हो गया। अर्जुन और सारे पांडव-बंधु यह दृश्य देखकर स्तब्ध हो गये और श्रीकृष्ण से कहने लगे, “कृष्ण, यह क्या हो रहा है।” अर्जुन का जो रथ शत्रुओं के हृदय में आतंक पैदा करता था वह राख की ढेरी बन गया। अर्जुन की आँखों में आँसू आ गये। उसने कहा, “कृष्ण, यह मैं क्या देख रहा हूँ? जो रथ मुझे अग्नि ने दिया था, जिस पर चढ़कर मैंने खांडव वन जलाया था, शत्रुओं को मारा

था, वह एक क्षण में भस्मीभूत हो गया। मुझे बताइए, यह क्यों हुआ?”

श्रीकृष्ण ने कहा, “अर्जुन, इस रथ का कार्य अब पूरा हो चुका। इस रथ ने सब प्रकार अस्त्र-शस्त्रों का प्रहार सहा। ब्रह्मास्त्र को भी यह सह सका। यह पहिले ही जल गया होता, पर मैं इस पर आसीन था। अब इसका कार्य-काल पूरा हो गया, इसलिए मैं भी इस पर से उतर गया। जब इसका कार्य समाप्त हो गया तब इसका भी अंत हो गया।” “मैं आसीन था” यह मर्म के वाक्य हैं।

“हरेक वस्तु का उद्भव किसी हेतु के लिए होता है। हेतु सिद्ध होते ही उसका नाश हो जाता है। मनुष्यों की भी यही गति है। संसार-यात्रा के लिए हर प्राणी एक कारज लेकर आता है। उस कारज के सिद्ध होने पर वह संसार से विदा हो जाता है, क्योंकि तब उसके जीवित रहने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। तुम्हारी और मेरी भी यही गति होनेवाली है। तुम और मैं दोनों किसी एक हेतु को लेकर अवतरित हुए हैं। हेतु-समाप्ति के अनंतर हम दोनों चले जायेंगे। जब तक वह हेतु पूरा नहीं होता तब तक दोनों वर्तमान हैं, वह काल भी आयेगा जब हम दोनों चले जायेंगे। पर अभी वह समय नहीं आया है।”

यह कथा यही बताती है कि हरेक शक्ति कारज लेकर जनमती है और कारज-समाप्ति के बाद विसर्जन होती है। अवतारवाद को समझने के लिए इस विश्लेषण और वृहद् व्याख्या की आवश्यकता है। क्योंकि संकुचित व्याख्या बुद्धि को विचलित कर देती है। अवतार एक हेतु के लिए होता है—धर्म की स्थापना, साधुओं की रक्षा, दुष्टों का नाश। इसी हेतु को लेकर श्रीकृष्ण का अवतार हुआ और कार्य सम्पन्न

होने पर 'उनका देह-विसर्जन हुआ ।

अवतार ईश्वर का प्रतीक मात्र है । प्रतीक अर्थात् प्रति + इक । पाषाण की मूर्ति भी प्रतीक है । पाषाण की मूर्ति भगवान नहीं है । जब तक प्राण-प्रतिष्ठा नहीं होती, तब तक वह मूर्ति पाषाण-मात्र ही रहती है । प्राण-प्रतिष्ठा के बाद पाषाण के पीछे जो भावना स्थापित की जाती है वही इस मूर्ति को ईश्वर का प्रतीक बना देती है । अवतार भी प्रतीक है । मूर्ति खंडित होने पर केवल पाषाण रह जाती है ।

मूर्ति के पीछे जो ईश्वर की भावना है, पूजक उसी की पूजा करता है । अवतार के पीछे भी जो साक्षात् पूर्ण ब्रह्म की भावना है उसी को सामने रखकर भक्त अवतार की पूजा और भक्ति करता है । राम कौन थे ? कृष्ण कौन थे ? इससे भक्त को कोई मतलब नहीं । अवतारवाद श्रद्धा और भावना का क्षेत्र है । उस भावना और श्रद्धा के बल पर ही मनुष्य ऊँचे चढ़ता है । उसी भक्ति को प्रधान मानकर भक्तों ने महा-भारत के कृष्ण का अनुकरण गौरव मान लिया और भक्ति पर अटल रहे ।

पाषाण की प्रतिमा या अवतार सब उसी परमेश्वर के प्रतीक हैं जो सबका कर्ता, हर्ता और नियंता है । भावना और श्रद्धा द्वारा प्रतीक में ईश्वरत्व का आरोपण करके प्रकारांतर से भक्त उसी परमेश्वर की पूजा करते हैं जो सबका अंतिम ध्येय है । जो फल निर्गुण ब्रह्म की उपासना से मिलता है वही प्रतीक उपासना से भी मिल जाता है ।

गीता में भगवान ने कहा है कि ममुष्य श्रद्धामय है, जिसकी श्रद्धा होती है प्रतीक भी वैसे ही बन जाता है । चाहे वह प्रतीक पाषाण की मूर्ति हो या अवतार हो ।

“जो श्रद्धायुक्त होकर अन्य देवताओं की पूजा करते हैं वे भी वास्तव में मेरी ही पूजा करते हैं और उन्हें मेरी ही पूजा का फल मिलता है, क्योंकि सब यज्ञों का और शुभ कर्मों का भोक्ता और स्वामी तो मैं ही हूँ ।”

कामैस्तैस्तैर्ह तज्ज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ (७-२०)

यो यो यां यां तनुं भक्त श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ (७-२१)

स तथा श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।

लभते च ततः कामान्मयैव विहितानिह तान् ॥ (७-२२)

अपनी-अपनी प्रकृति के नियमानुसार भिन्न भिन्न लोग भिन्न-भिन्न नियमों से भिन्न-भिन्न देवताओं को भजते हैं ।

जो भक्त जिस रूप की श्रद्धा से उपासना करना चाहता है, उसकी श्रद्धा को मैं स्थिर कर देता हूँ ।

उस श्रद्धा से युक्त होकर वह उस देवता की आराधना करता है । पर उसको मेरे ही निर्माण किये हुए फल मिलते हैं ।

कम बुद्धिवाले लोग मुझ अव्यक्त और अविनाशी को व्यक्त मान बैठते हैं । पर तो भी उनको ईश्वर ही की पूजा का फल अंत में मिलता है ।

प्रतीक में भी पूर्ण शक्ति का आविर्भाव

महाभारत में एक कथा है कि निषादराज के एक लड़के को, जिसका नाम एकलव्य था, धनुर्विद्या सीखने की अत्यंत लालसा थी। धनुर्विद्या सीखने के हेतु वह द्रोणाचार्य जी के पास पहुँचा और उनसे याचना की कि, 'भगवन्, मुझे आप धनुर्विद्या सिखाइए।' आचार्य ने बालक से पूछा कि 'तुम कौन हो?' बालक ने उत्तर दिया कि 'मैं निषादराज का पुत्र हूँ।' इस पर द्रोणाचार्य ने कहा, 'तुम शूद्र हो, अतः मैं तुम्हें यह विद्या नहीं सिखा सकता।' बालक यह सुनकर न तो दुःखित हुआ और न निराश ही हुआ। उसने वन में जाकर द्रोणाचार्य की एक मिट्टी की मूर्ति बनायी और उसे ही अपना गुरु मानकर बिना किसी की सहायता के धनुर्विद्या का अभ्यास करने लगा। अत्यंत श्रद्धा और लगन के साथ उसने लगातार अभ्यास किया और अंत में वह धनुर्विद्या में पारंगत हो गया।

एक दिन पांडव बालक उस वन की ओर आये थे। उनके साथ एक कुत्ता था जो उस निषाद बालक को देखकर भौंकने लगा। इस पर उस निषाद ने कुत्ते पर ऐसी कारीगरी से बारा बरसाये कि कुत्ता मरा नहीं, पर उसका मुँह बारा से भरकर बंद हो गया। पांडवों ने जब यह दृश्य देखा तो उन्हें अत्यंत आश्चर्य हुआ और उन्होंने यह सारी कथा जाकर आचार्य से कही। उन्होंने यह भी कहा कि ऐसा कुशल धनुर्धारी तो हमने देखा नहीं। आपने हमें धनुर्विद्या सिखायी पर इतनी दक्षता नहीं सिखायी।

यह सुनकर द्रोणाचार्य उन सबको साथ लेकर उस बालक के पास पहुँचे और उससे पूछा, "वत्स, यह विद्या तुमने किससे सीखी?" उसने उत्तर दिया, "मेरा गुरु द्रोणाचार्य है, उसी से मैंने यह विद्या प्राप्त की है।"

द्रोणाचार्य को आश्चर्य हुआ क्योंकि उन्होंने कभी उसको दीक्षा दी हो, ऐसा उन्हें स्मरण नहीं था।

ज्यादा प्रश्नोत्तर के बाद यह पता लगा कि उसने मिट्टी की मूर्ति को द्रोण का प्रतीक बनाकर उसी से यह विद्या प्राप्त की है।

तात्पर्य यह है कि प्रतीक की भी श्रद्धा और लगन के साथ पूजा करने से उस प्रतीक में एक उच्च शक्ति का आविर्भाव हो जाता है जो उपासक को वांछित फल देता है।

“यं यजन्ति पितॄन् देवान् गुरुंश्चैव अतिथिस्तथा।
गाश्चैव द्विजमुखांश्च पृथिवीं मातरं तथा ॥
कर्मणा मनसा वाचा विष्णुमेव यजन्ति ते।”

देव पितर, गुरु, ब्राह्मण, अतिथि और गाय की पूजा करनेवाले भी प्रकारांतर से विष्णु की ही पूजा करते हैं। यह प्रतीक का माहात्म्य नहीं पर श्रद्धा का चमत्कार है।

गुरुःसाक्षात् परंब्रह्म

गुरु को प्रतीक बनाकर ब्रह्म की ही उपासना होती है। धर्मव्याध मांस का व्यापार करता था। यह उसका पेशा था, पर शाम को घर जाकर उसने माता-पिता की सेवा करके ही ब्रह्मात्मक्य की प्राप्ति कर ली। माता-पिता को प्रतीक बनाकर वह ईश्वर ही की पूजा करता था।

गुरु को भी साक्षात् ब्रह्म बताया गया है। इसका फल भी वही मिलता है जो साक्षात् ब्रह्म की पूजा का मिलता है।

इस श्रद्धा के कारण फल देनेवाला 'पर' नहीं, किंतु 'स्वयं' ही है।

“अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विस्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोधय समञ्जुहुराण मेनो भूयिष्ठां ते नमउक्ति विधेम ॥”

यहाँ अग्नि को भगवान का प्रतीक मानकर ईश्वर से

प्रार्थना की गयी है कि, हे अग्ने, हमें शुभ मार्ग से ले जा और दूषित मार्ग से हटा। यह सब वचन इस तथ्य को समझाते हैं कि प्रतीक एक सहारा है और प्रतीक की पूजा भी हमारी श्रद्धा के कारण भगवान ही की पूजा बन जाती है और अंत में भगवान की पूजा का ही उपासक को फल मिलता है।

वेदांत की भाषा में इसका अर्थ यह है कि आत्मा स्वयं अपने-आपसे प्रार्थना करके अपनी शुभ वृत्तियों को जागृत करके इष्टफल पाता है। क्योंकि—

“ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत् ।”

यह सारी सृष्टि ईश्वर से आच्छादित है। इस हालत में प्रार्थना करनेवाला और जिससे प्रार्थना की जाती है, वे एक ही अभिन्न शक्ति हैं। भिन्न नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि फल देनेवाला और पानेवाला भी एक ही है, दो नहीं। पर यह फल श्रद्धापूर्वक अनन्य भाव की उपासना से ही मिलता है।

असल में तो गीताकार ने यह भी कहा है कि न तो ईश्वर किसी का पक्ष करता है, अर्थात् न तो वह साधुओं का पक्षपात करता है और न दुष्कृतों को दण्ड देता है, “नाक्ते कस्यचित् पापं न चैवसुकृतिविभु”, “समोहं सर्वभूतेषु” तो भी साधुओं का कहयाण होता है और दुष्टों का नाश होता है। पर ईश्वर इसके लिए कोई परिश्रम नहीं करता। यह तो प्रकृति का अटल नियम है कि भले का भला और बुरे का बुरा होता है। इसी नियम के अनुसार ही व्यक्ति की क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं। भले का भला क्यों होता है, बुरे का बुरा क्यों, यह प्रकृति या भगवान का नियम है। “स्वभावस्तु प्रवर्तते” इसमें तर्कवितर्क अप्रस्तुत है।

भक्तों की भक्ति जाग्रत करने के लिए और उसके द्वारा मनुष्य की वासना क्षय कराके उदात्त मार्ग में प्रेरित करने के लिए अधियो ने इसी शुभ हेतु के निमित्त ईश्वर को जान-बूझकर देहधारी बना दिया। इसकी हम समा-

लोचना नहीं कर सकते। यद्यपि इस मान्यता को भी गीताकार ने टीका करते हुए कहा है कि “अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यति जन्तवः” अज्ञान से ज्ञान दका होने से प्राणियों को यह मोह हो जाता है कि मैं देहधारी हूँ।

यह ‘मोह’ कहो या श्रद्धा कहो, उत्थान की सीढ़ी का प्रथम सोपान है। यह आवश्यक भी है। स्वर, व्यंजन यह पाणिनि का व्याकरण नहीं है। पर पाणिनि को समझने की यह प्रथम सीढ़ी है। इस प्रथम सीढ़ी का महत्व है। पर प्राणी को इस प्रथम सीढ़ी पर ही रुकना नहीं है, आगे बढ़ना है। फिर भी प्रथम सीढ़ी पार किये बिना आगे की सीढ़ियों में कैसे चढ़ा जा सकता है।

अंत में तो भक्ति और कर्मयोग दोनों ही ज्ञान की प्राप्ति में समाप्त होते हैं। ज्ञान ही सीढ़ी का अंतिम सोपान है। तो भी प्रथम सीढ़ी के महात्म्य को भुला देना असंगत है।

वेदांत की भाषा में भक्ति का अर्थ वह नहीं है जो भावुक भक्त करते हैं। भक्ति की महिमा वर्णन करते समय गीताकार ने कहा है कि—

“अनन्याश्चितयंतो माम् ये जना पर्युपासते
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।”

अर्थात् जो लोग अनन्य भाव से मेरा चिंतन करते हैं, मेरी उपासना करते हैं और संपूर्णतया मुझमें संलग्न हैं, ‘ये भजन्ति तु मां भक्त्या’ उनके योग और क्षेम दोनों की मैं रक्षा कर लेता हूँ। ‘योग’ कहते हैं जो मिल गयी उस वस्तु को और ‘क्षेम’ उसकी रक्षा करने को। इन दोनों की रखवाली भगवान भक्त के लिए करता है। पर दूसरी जगह श्रीकृष्ण ने कहा है, जैसा ऊपर लिख आये हैं, कि भगवान न तो किसी का पक्ष करता है और न किसी को दंड देता है। पर दो वाक्य परस्पर-विरोधी नहीं हैं। इसका भी तात्पर्य समझना चाहिए। (स्वभावस्तु प्रवर्तते)

पर जहाँ भगवान ने योग और क्षेम दोनों की रक्षा करने

का वादा किया है वहाँ जो कंद लगायी है उसको भूलना प्रमाद होगा। कंद यह है कि भक्त अनन्य भाव से उपासना करे। उपासना नहीं, पर पर्युपासना करे। नित्य योगयुक्त हो इंद्रिय पर संपूर्ण काबू हो तभी वह उपासना सफल होती है और उसके फलस्वरूप योगज्ञेय का निर्वाह होता है।

तात्पर्य यह है कि भगवान हमसे अलग नहीं हैं, हमारे भीतर भी हैं या यह कहो कि हम स्वयं ही भगवान हैं। नानक ने कहा “पुष्प मध्य ज्यो वास बसत है मुकुर माहि जस छाई, वैसे ही हरि बसै निरतर घट ही खोजो भाई।”

उदाहरण को सामने रखकर भाष्यकारों ने यह समझाया है कि कनक-कुडल में कोई भेद नहीं। समुद्र और उसकी लहर में कोई भेद नहीं। इसी तरह हमारे अंतर में स्थित आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। हम स्वयं ब्रह्म हैं। पर प्रथम सोपान में हम शिवोऽहम् नहीं कह सकते। आरंभ तो नमः शिवाय से होता है। अंत में शिवोऽहम् आता है।

यदि हम अनन्यचित्त से आत्मचिंतन करते हैं—आत्मा के साक्षात्कार में पूरे जुट जाते हैं—तो योग अर्थात् जो आत्मज्ञान हमें अब तक नहीं मिला, वह प्राप्त हो जाता है और उसके मिलने पर वह “ज्ञेय” अचल रहता है।

सांसारिक पदार्थों के बारे में भी भाष्यकारों ने यही नियम लागू किया है कि जब हम लगन के साथ निस्वार्थ होकर फलासक्ति छोड़कर किसी कार्य में जुट जाते हैं और सारा बोझ भगवान पर डाल देते हैं तो प्रकृति के नियम के अनुसार उससे सांसारिक वस्तु को प्राप्त करने में हमें सफलता मिलती ही है और उस सफलता की रक्षा भी होती है। इसमें शास्त्र के अनुसार भगवान का कोई पक्षपात नहीं है। पानी अपने आप ढलाव की ओर बहता है, यह प्रकृति का नियम है। उसमें किसी का पक्षपात नहीं है। उसी नियम के अनुसार हम किसी एक शुभ हेतु को लेकर, निष्पक्ष भाव

से फलासक्ति त्यागकर, लगन के साथ किसी काम में जुट जाते हैं, तो हमें फल की चिंता को छोड़कर कार्य करते जाना चाहिए। फलस्वरूप हमें सफरुता अवश्य मिलेगी। बिजली पानी ठंडा भी करती है और गरम भी करती है। यह बिजली का पक्षपात नहीं है। यह स्वभाव है। हम पखे की शीतल हवा चाहते हैं पर वही ‘स्विच’ ही गरम सिंगड़ी से जोड़ देते हैं, तो उल्टी गर्मी मिलती है। इसमें बिजली का दोष नहीं है। हमारी ही भूल है। भगवान की दया सारे विश्व में बिखरी हुई है। हम न बटोरे तो दोष हमारा। भगवान का पक्षपात नहीं है।

यह भगवान का आशीर्वाद कहो या प्रकृति का नियम कहो—दोनों एक ही बातें हैं। पर यह वेदांत की भाषा सर्वसाधारण ग्रहण नहीं कर सकता, इसलिए निर्गुण ब्रह्म से ऊपर उठकर सर्वसाधारण को यह बताया है कि भगवान एक शरीर धारण करते हैं और उस देह के द्वारा साधुओं की रक्षा करते हैं, दुष्टों का नाश करते हैं और हमें योगज्ञेय देते हैं। इसलिए उनकी भक्ति करो। इसलिए हमें यदि भगवान की भक्ति से योग और ज्ञेय दोनों चाहिए तो उसकी प्राप्ति के लिए हमें साधु अर्थात् चरित्रवान्, निस्वार्थ, परोपकारी और सज्जन बनना चाहिए। “सर्व भूत हिते रता” रहकर स्वधर्म का आचरण करना चाहिए। इंद्रियों का सयम करना चाहिए। द्वंद्व से परे रहना चाहिए। हानि-लाभ के संबन्ध में निश्चित होकर स्वकर्म करते रहना चाहिए। सन्नेप में, दंवी सपदा की उपासना करनी चाहिए, तभी हमारे योग-ज्ञेय का निर्वाह होता है।

इस तरह चाहे वेदांत की भाषा का उपयोग करो या भक्ति की भाषा का, दोनों में साधुत्व प्राप्त किये बिना अप्राप्य प्राप्त नहीं होता और प्राप्त की रक्षा नहीं होती। हर हालत में भक्ति का माहात्म्य समान है। दंवी सपदा के आधार पर ही स्थित है।

ब्रह्म बुद्धिगम्य नहीं, अनुभव-सिद्ध श्रद्धा है

गीता के बारहवें अध्याय में अर्जुन ने ठ्यक्त् और अठ्यक्त् की उपासना के बारे में श्रीकृष्ण से एक अत्यंत महत्व का प्रश्न पूछा। उसके पहिले शुरू से ग्यारह अध्याय तक अर्जुन और भगवान के बीच काफी प्रश्नोत्तर हो चुके थे। भगवान ने न केवल अर्जुन को अपनी विभूतियों का ही वर्णन किया, पर अपना विश्वरूप भी दिखाया। कर्म और भक्ति का भी उपदेश देते रहे। इतने पर भी अर्जुन को कुछ शंका रह ही गयी।

या तो यो भी कहा जा सकता है कि इस शंका का उद्भव भी इन ग्यारह अध्यायों के विवेचन के बाद ही हुआ। इस-लिये अर्जुन ने भगवान से साफ-साफ पूछा, “मुझे यह बताइए कि ऐसे भक्त जो कर्मयोग का आचरण करते हुए आपकी पूजा करते हैं, या तो ऐसे भक्त जो अक्षर और अठ्यक्त् ब्रह्म की उपासना करते हैं, उन दो में से कौन उत्तम योगी है?”

भगवान ने इसका स्पष्ट उत्तर दिया, “अर्जुन, जो मुझमें मन डालकर नित्य श्रद्धापूर्वक कर्मयोग में रत हैं, वे उत्तम योगी हैं। दूसरी ओर जो अक्षर, अनिर्देश्य, अठ्यक्त्, सर्व-व्यापी, अचित्, अचल, अपरिवर्तशील, कुटस्थ ऐसे मुझको, सब इंद्रियों को वश में करके, सब भूतों का हित करते हुए, उपासते हैं, वे भी मुझको ही प्राप्त करते हैं। पर इस अठ्यक्त् की उपासना करनेवालों को अधिक क्लेश होता है, क्योंकि शरीरधारी के लिये अठ्यक्त् की उपासना कठिन है।

इस स्पष्ट प्रश्न का भगवान का यह स्पष्ट उत्तर है। यद्यपि आरंभ में ठ्यक्त् की उपासना हल्की बतायी, पर पीछे से यह स्पष्ट कर दिया कि देहधारी के लिये अठ्यक्त् की उपासना सहज नहीं है। इस उत्तर से सगुण अवतार की उपासना का महत्व अत्यंत स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि यह

सुगम मार्ग है।

इस उपासना को नववें अध्याय में पवित्र, प्रत्यक्ष और सुखपूर्वक उपासी जा सके ऐसी बताया है। पर सगुण उपासक को भी यह सल्लाह दी है कि वह सर्वभूतों में स्थित मुझे अविभक्त और अठ्यक्त् ही समझे। ठ्यक्त् और सगुण की उपासना भी ज्ञानपूर्वक—अज्ञान से नहीं—पर अठ्यक्त् समझकर ज्ञान की श्रद्धा से करे।

प्रतीक-पूजा में, चाहे वह पाषाण की मूर्ति हो या अवतार की या किसी पूजनीय संत की, श्रद्धा और भावना के कारण वह प्रतीक वास्तव में ईश्वर ही बन जाता है और ऐसे उपासक को ईश्वर की उपासना का ही फल मिल जाता है—यह शास्त्रों का और अनुभवी संतों का वचन है। अच्छे का फल अच्छा और बुरे का बुरा, यह सर्वमान्य निर्णय तर्क के आधार पर प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

कल सूर्य का उदय अवश्य होगा, ऐसा हम मानते हैं। पर उसकी बुनियाद भी पूर्वजों का अनुभव ही है। ब्रह्मांड में अनंत नये ग्रह नित्य जनमते हैं। अनगिनत ग्रहों का नित्य नाश होता है। इसी कालक्रम की गति में सूर्य का कल क्या होगा, यह तर्कसिद्ध नहीं है, तो भी अनुभवसिद्ध श्रद्धा के बल पर हम मानते हैं कि कल सूर्योदय अवश्य होगा।

इतिहास हमें बताता है कि शुद्ध बुद्धि और शुभ हेतु से किये गये शुभ कार्य की सफलता निश्चित है। कर्मयोग के संबंध में यह भगवान का आश्वासन है।

इसी तरह हमें यह भी बताया गया है कि भगवान की अनन्य भक्ति और शुद्ध बुद्धि से जो उपासना की जाती है, उसका फल मंगलदायक ही होता है। यह भी श्रद्धा का क्षेत्र है। इस निर्णय में तर्क-वितर्क या कुतर्क को कोई स्थान

नहीं हैं।

हमारी आँखें ज्यादा-से-ज्यादा १०-२० मील का दृश्य देख सकती हैं। कानों की शक्ति भी परिमित है। नाक भी बहुत दूर की गंध नहीं सूँघ सकती। इस तरह इंद्रियों की शक्ति अत्यंत परिमित है। मन-बुद्धि की शक्ति भी अल्प है। इंद्रियों, मन और बुद्धि—इन सबकी दौड़ एक सीमा के पश्चात् अल्प हो जाती है। ऐसे परिमित साधनों के बल पर अनंत, अचिंत्य और अठ्यक्त ईश्वर की लीला का सविस्तार विश्लेषण हम करना चाहे और 'नेति नेति' के बदले में 'सेति सेति' का निर्णय देना चाहें, तो यह अहंमन्यता होगी। इसलिए प्रतीक या अवतार की भक्ति और उपासना तर्क-वितर्क के आधार पर प्रमाणित करने का प्रयास व्यर्थ है। ऐसे तर्क के आधार पर जो भक्त की भक्ति को शिथिल करते हैं वे भक्त का अहित करते हैं। इस रहस्यमय क्षेत्र में भ्रम के बल पर ही प्रवेश हो सकता है। तर्क-वितर्क को इसमें कोई स्थान नहीं है, विशेषकर यदि वह तर्क कुतर्क हो तो।

वृहदारण्यक उपनिषद् में एक अत्यंत बोधप्रद कथा है। कथा यह है कि विदेहराज जनक ने एक यज्ञ का आयोजन किया था जिसमें अनेक प्रकार के दान देने का विदेहराज ने निश्चय किया था। यज्ञ में कुरु और पंचाल के अनेक विद्वान् पंडित एकत्रित हुए थे। जनक ने यह जानना चाहा कि इन उपस्थित विद्वानों में शिरोमणि पंडित कौन हैं। उसने एक हजार गौरों, त्रिनके सींग सोने से मढ़े हुए थे, यज्ञशाला में मँगायीं और उपस्थित पंडितों से कहा, "विद्वानो, आपमें जो शिखर का पंडित हो वह इन गायों को ले जाये।"

वहाँ याज्ञवल्क्य भी उपस्थित थे। उन्होंने अपने शिष्य से कहा, "सामभवा, इन गायों को घर ले चलो।" इस पर अन्य ब्राह्मण बिगड़ पड़े और कहने लगे, "तुम कैसे प्रमाणित करते हो कि तुम ही शिरोमणि पंडित हो?" यहाँ विद्वन्मंडली में और भी सुशिक्षित वेदज्ञ हैं। जनक के

यहाँ एक अश्वत्थ नाम का पंडित था। उसने याज्ञवल्क्य से पूछा, "याज्ञवल्क्य, क्या तुम सचमुच हम लोगों से ऊँचे वेदज्ञ हो?" याज्ञवल्क्य ने कहा, "मैं सर्वश्रेष्ठ विद्वान् को नमस्कार करता हूँ। पर गाये तो मुझे ही लेनी हैं।" इस पर अश्वत्थ ने याज्ञवल्क्य की परीक्षा लेने के लिए उससे शास्त्रीय प्रश्न पूछने शुरू किये। उसने प्रश्नों की झड़ी लगा दी। याज्ञवल्क्य ने उन सबका यथोचित उत्तर दिया और अश्वत्थ को चुप हो जाना पड़ा। इसके बाद दूसरे पंडितों ने भी प्रश्नों की बाँधुरा शुरू की, पर याज्ञवल्क्य उन सबका भी उत्तर देकर सबको चुप करता चला गया। फिर वाचकन की पुत्री मार्गी की भी बारी आयी। यह अत्यंत विदुषी पंडिता थी। मार्गी ने पूछा, "याज्ञवल्क्य, बताओ यह सब जल से आच्छादित है पर जल किससे आच्छादित है?" याज्ञवल्क्य ने कहा, "वायु से।" "वायु किससे आच्छादित है?" "आकाश से।" "और आकाश?" "गंधर्व-लोक से।" "और गंधर्व-लोक?" "सूर्य-लोक से।" "और सूर्य-लोक?" "चंद्र-लोक से।" "चंद्र-लोक किससे आच्छादित है?" "नक्षत्र-लोक से।" "नक्षत्र-लोक?" "देव-लोक से।" "और देव-लोक किससे आच्छादित है?" "इन्द्र-लोक से।" "और इन्द्र-लोक?" "प्रजापति-लोक से।" "प्रजापति लोक किससे आच्छादित है?" "ब्रह्म-लोक से।" "ब्रह्म-लोक किससे आच्छादित है?" अब याज्ञवल्क्य ने उत्तेजित होकर कहा, "मार्गी, तुम सीमा उल्लंघन कर रही हो। अब आगे मत बढ़ो अन्यथा तुम्हारा सिर पात हो जायेगा। तुम जो पूछती हो वह विषय बुद्धिगम्य नहीं हैं। देव के विषय में अति प्रश्न मत करो।" इस पर मार्गी चुप हो गयी।

इसके बाद और-और पंडितों ने भी प्रश्न किये जिनका भी याज्ञवल्क्य ने यथोचित उत्तर दे दिया, और उन सबको चुप कर दिया।

अंत में मार्गी ने कहा, "पंडितो, अब मैं दो प्रश्न और

पूछती हूँ। उनका उत्तर मिलने पर तुम समझ लेना कि याज्ञवल्क्य अजेय है। गार्गी ने प्रश्न पूछा और याज्ञवल्क्य से यथोचित उत्तर पाने पर गार्गी ने कहा, “पीड़ितो, याज्ञवल्क्य को नमस्कार करके अपने-अपने घर जाओ। यह अजेय है।”

याज्ञवल्क्य गायें लेकर घर चला गया।

पर इसमें जो महत्व की शिक्षा है, वह यह कि ‘गार्गी, ब्रह्म बुद्धिगम्य नहीं है।’ ‘ज्यादा तर्क-वितर्क मत करो, नहीं तो तुम्हारे सिर का पात हो जायेगा।’

गीताकार ने भी कहा है कि यह संसार रहस्यमय है। कुछ विद्वानों को यह आश्चर्यवत् दीखता है। कुछ इसे आश्चर्यवत् कहते हैं और कुछ उसे सुनने पर भी रहस्य समझ नहीं पाते।

“देखत तव रचना विचित्र अति समुक्ति मनीहि मन रहिये।”

जहाँ बुद्धि कुंठित हो जाती है वहाँ से श्रद्धा का क्षेत्र शुरू हो जाता है। इस सीमा के आगे एक ऐसी दीवार है, जिसको तर्क-वितर्क के लिए उलौंघना असंभव है।

गीता का कर्मयोग

तेल की धार की तरह अविच्छिन्न

कुछ आचार्यों ने बताया है कि गीता के प्रथम छह अध्याय कर्म के समर्थक हैं, दूसरे छह अध्याय भक्ति के और अंतिम छह अध्याय ज्ञान के प्रतिपादक हैं। अन्य आचार्यों ने भी कुछ हेरफेर के साथ इसी तरह का विभाजन किया है। यह विभाजन सही हो सकता है, पर गीता के साधारण पाठक को यह कुछ कृत्रिम-सा लगता है।

गीता के अठारह अध्यायों का अलग-अलग नामकरण किया हुआ है। इसके अनुसार तीसरे अध्याय का नाम रखा गया है 'कर्मयोग' और बारहवें अध्याय का नामकरण है 'भक्ति-योग', पर गीता पढ़नेवाले को कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों का प्रायः सभी अध्यायों में समर्थन मिल जाता है। इसलिए इस विभाग का पूरा रहस्य आचार्य लोग ही समझ पाये होंगे। साधारण पाठकों के लिए यह विभाजन बुद्धिगम्य नहीं है।

जो भी हो, प्रस्तुत तात्पर्य तो इतना ही जानने से है कि कर्मयोगी और भक्त के आचरणों में कोई विशेष अंतर है क्या? भगवान् ने कर्म करने के लिए क्यों आग्रह किया? कर्मयोग किसे कहते हैं? कर्मयोगी का आचरण कैसा होता है? योग का अर्थ युक्ति भी है—“योग कर्मसु कौशलम्।” यह कुशलता या युक्ति कैसी?

योगस्थः कुरु कर्माणि संग्रह्य कृत्वा धनत्रय।

सिद्धसिद्धः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

'समत्वं' यही योग है ऐसा भी भगवान् ने बताया। तो इस 'समत्वं' का मर्म क्या है?

इसी तरह भक्ति का भी तात्पर्य क्या है? भक्ति-मार्ग कर्मयोग से भिन्न है क्या? भक्त के आचरण कैसे होते हैं? देवी सपदा के लक्षण भी बताये हैं। स्थित-प्रज्ञ के भी।

त्रिगुणातीत के लक्षण अलग बताये हैं। इन सबमें क्या अंतर है? गीताकार ने इन सब प्रश्नों का अत्यंत स्पष्ट और बोधप्रद उत्तर दिया है। यह सारा विश्लेषण इतना सरल है और साधक के मार्ग को इतना सुलभ बना देता है कि साधक को इसका अध्ययन और मनन अत्यंत आवश्यक है।

गीता महाभारत का ही एक विशिष्ट अंग है। ठ्यासजी ने कहा है कि गीता सर्व उपनिषदों का सार है। 'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः' उपनिषद्-रूपी गावों का दुध साक्षात् भगवान् कृष्ण ने दुहकर अर्जुन को पिलाया। पर यह दुग्ध भगवान् ने सुवर्ण के कटोरे में भरकर सभी मुमुक्षुओं के सामने रखकर उन्हें निमंत्रण दिया है और कहा है कि जिसे पीने की इच्छा हो वह बिना किसी रुकावट के इस दुग्ध का पान करे और अपनी ज्ञान-पिपासा को शांत करे।

गीता में पुनरुक्तियों का कोई अभाव नहीं है। पर इन अनेक पुनरुक्तियों को ठ्यासजी ने जान-बूझकर ही रखा है। एक ही घूंट में कटोरे का सारा दुग्ध नहीं पिया जा सकता। उसे बार-बार पीने से ही उसके रस का पूरा आस्वादन मिलता है। इसी उपमा से पुनरुक्ति का रहस्य खुल जाता है।

इस अद्भुत ग्रंथ गीता की महिमा जग-विख्यात है। सभी देशों में और सभी भाषाओं में इस अद्भुत प्रवचन का सत्कार हुआ है।

निवृत्ति और प्रवृत्ति यह दोनों मार्ग आदि काल से प्रचलित चले आ रहे हैं। निवृत्ति के आचार्यों ने इस निवृत्ति मार्ग को सांख्य योग के नाम से पुकारा है और प्रवृत्ति मार्ग को भागवत धर्म कहा गया है, जिसमें कर्मयोग और भक्ति दोनों का समन्वय है। यह भागवत धर्म भी कोई

नया मार्ग नहीं था। पर काल के प्रभाव से इसका माहात्म्य ढीला पड़ गया था। इसके पुनरुद्धारक स्वयं श्रीकृष्ण हैं।

महाभारत, भागवत और विशेषकर के भगवद्गीता में इस भागवत धर्म के मार्ग का विशेष प्रतिपादन है। इस लपत और सुप्त मार्ग का उद्धार करके उस समय की भटकी हुई जनता को अपने कर्तव्य-मार्ग पर लाने के लिए ही श्रीकृष्ण भगवान का यह प्रयास था। और उस प्रवृत्ति मार्ग द्वारा इस कमयोग अर्थात् सक्रिय मिष्काम कर्म की ओर समाज को प्रेरित करने में भागवत धर्म के प्रवर्तकों को काफी सफलता मिली है। भागवत धर्म ही गीता का प्रधान विषय है।

महाभारत-युद्ध प्रारंभ होने ही को था। युद्ध की सारी तैयारी हो चुकी थी। चारों ओर अस्त्र-शस्त्रों की भनकार से कुरुक्षेत्र गुँज रहा था। सब महारथी अपने-अपने शंखों की ध्वनि द्वारा युद्ध की ललकार दे रहे थे। ऐसे समय में अर्जुन भगवान से कहता है, “भगवन्, इन दोनों सेनाओं के बीच में आप मेरे रथ को ले चलके खड़ा कीजिए, ताकि जो मुझसे कमर कसके युद्ध करने को उपस्थित हैं, उन्हें जरा देख तो लूँ।”

अर्जुन के इस कथन पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन के उस विशाल रथ को दोनों सेनाओं के बीच लाकर खड़ा कर दिया और भीष्म, द्रोणादि तथा अन्य सेनानायकों की ओर संकेत करके कहा, “अर्जुन, इन एकत्रित योद्धाओं को देख।”

अर्जुन ने चारों ओर दृष्टि फैलायी तो देखता है कि सारे बंधु-बांधव, गुरु, प्रपिता, पुत्र, पौत्र और अन्य परिवार के लोग मरने के लिए उपस्थित खड़े हैं। उन्हें देखते ही अर्जुन काँप उठा। उसका सारा शरीर शिथिल हो गया। वह कहने लगा, “कृष्ण, मेरा मुँह तो सूखा जा रहा है। शरीर धुँज रहा है। धनुष मेरे हाथ से फिसल रहा है। इन सहृदों को मारकर युद्ध में मुझे विजय भी मिले तो क्या लाभ होगा?

इन सबको इस हिंसा की ग्लानि न भी हो तो क्या, मैं इस कुकृत्य में क्यों प्रवृत्त होऊँ? इससे अच्छा तो यही है कि दुर्योधन इत्यादि मुझ निःशस्त्र को मार डालें। इस पाप से तो मृत्यु ही अच्छी।” यह कहकर अर्जुन अपने धनुष को रथ में डालकर चुप हो बैठ गया।

अर्जुन के इस दौर्बल्य पर भगवान को दया आयी और उन्होंने अर्जुन से कुछ हँसते हुए कहा, “अर्जुन, यह अनार्य वृत्ति जो नरक में डालनेवाली है, यह तुममें कहाँ से उद्भव हो गयी? इस कापुरुषता को छोड़ और खड़ा हो।” पर अर्जुन तो उस विषाद से इतना व्यथित हो गया था कि वह उसी चाल-दाल की बातें करता रहा। उसने श्रीकृष्ण से फिर कहा, “कृष्ण, मेरी बुद्धि काम नहीं दे रही है। मुझे लड़ना नहीं है।” यह कहकर वह चुप हो गया।

यहीं से श्रीकृष्ण का उपदेश आरंभ होता है। प्रथम तो सांख्य योग अर्थात् निवृत्ति-मार्ग के आधार पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाया कि यह आत्मा सर्वत्र व्यापक है, अजर है, अमर है। कौन मारता है और कौन किसी को मरवाता है।

मुडकोपनिषद् के आचार्य ने वारो द्वारा जितना बताया जा सकता है उतना आत्मा के विशेषणों का वर्णन किया है। आचार्य ने बताया—

यत् तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवराम्
चक्षुः श्रोत्रं तदपारिणपादम्।
नित्यं विभु सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं
तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥

जो दिखायी नहीं देता, जो इंद्रियगम्य नहीं है, जो कभी जनमा नहीं, जिसका कोई वर्ण नहीं है, जिसको न तो कान है, न आँख, जिसको न हाथ है, न पाँव, जो नित्य है, जिससे व्यक्त का प्रभाव है और जो सबको आच्छादित करता है, अत्यंत सूक्ष्म है, जो अव्यय है, जिससे तमाम प्रकृतिजन्य, भूत प्राणी प्रसव होते हैं, ऐसा धीर पुरुषों ने इस अव्यक्त

को जाना है।

इसी तरह की भाषा में अन्य उपनिषदों में भी आत्मा अर्थात् सर्वव्यापक सत्य का वर्णन किया है।

गीता में भी उसी की पुनरुक्ति है, जो कृष्ण ने अर्जुन को बताया। आगे चलकर कृष्ण ने बताया, “जिस तरह मनुष्य पुराने कपड़ों को फेंककर नये वस्त्र धारण करता है, वही हालत इस शरीर की समझ। मृत्यु केवल जोरों शरीर को फेंककर नया शरीर धारण करना है। इसलिये मृत्यु का यह शोक किसके लिये? यह सारा विचार अज्ञानमूलक है। तुम्हें यह शोभा नहीं देता। यह शरीर न तो आदिमें था न अन्तिम में रहेगा। यह केवल मध्य में दिखायी देता है इसलिये यह असत्य है। बुद्धिमान् लोग इसका शोक नहीं करते। तू बाते तो ज्ञानी की-सी करता है पर तू है कोरा नादान।

“व्यावहारिक दृष्टि से भी यदि तू युद्ध नहीं करेगा तो लोग कहेंगे कि अर्जुन कायर है। उर के मारे वह रण से भाग गया इत्यादि। इस तरह भारी निन्दा होगी।

“मैंने तुम्हें सारथ्य भाग की दृष्टि से यह समझाया। अब मैं तुम्हें कमयोग की दृष्टि से भी बताता हूँ। इससे तुम्हें समझ में आ जायेगा कि समबुद्धि से मनुष्य जो भी स्वधर्म-कर्म का आचरण करते हैं वे तमाम बंधनों से मुक्त हो जाते हैं।

वाराणसी में गीता का उपदेश है कमयोग का प्रतिपादन और वह दूसरे अध्याय के ३६वें श्लोक से आरम्भ होता है। इसके बाद कमयोग और भक्तियोग दोनों का हरेक अध्यायों में बार-बार विश्लेषण, प्रतिपादन और समर्थन होता ही रहा है, उसकी पुनरुक्ति भी होती रही है। कम और भक्ति इन दोनों के साधन से यत्न में ज्ञानी नष्टा प्राप्त होगी और इस नाशवान् ससार से मुक्ति मिलेगी। यह इस सारे उपदेश का सार है।

श्रीकृष्ण बार-बार कहते हैं, “कर्म कभी नहीं छोड़ना।” पर उस काल के प्रचलित विचारों के अनुसार यज्ञ, याज्ञ और रवग-प्राप्ति के लिये की जानेवाली अनेक क्रियाओं और यज्ञ में पशुओं की हिंसा, सोमरस का पान इत्यादि इन सारी विधियों का भी कर्म ही कहा जाता था। इस कर्मकांड सबधी प्रचलित कर्म को दूर करने के लिये अर्जुन को स्वधर्म का आचरण करने के लिये उत्तरोत्तर करने के साथ-साथ ही भगवान् को यह भी समझाना पड़ा कि इन वेद के लभावने शब्दों में जो कर्मों की प्रशंसा की है, मैं उसका समर्थन नहीं कर रहा हूँ। जो लोग इन्द्रियों के अर्थों में रत हैं, ‘प्रेयो’ को छोड़कर ‘प्रेया’ के ही पीछे दौड़ते हैं और उसकी प्राप्ति के लिये जाना प्रकार का किशोर बड़े प्रयास से करते हैं, उन यज्ञ-याज्ञ करनेवालों को न तो कभी निश्चयात्मक बुद्धि ही प्राप्त होती है, न उन्हें शांति या मोक्ष ही मिल सकती है। इसलिये मैं जो कहता हूँ वह तो यह है कि इन नाशवान् सृष्टि, स्वर्ग इत्यादि की लालसा से मन को हटाकर सत्त्व में जा। स्वधर्म-कर्मों से कभी भी विचलित मत हो। कर्मों का कर्म कर, पर उनके फल की तृष्णा को छोड़। अपना धर्म समझकर ही सारे कर्म कर।

पारणों का अधिकार कर्म करनेवाले का है। फल तो ईश्वर के अधीन है। अब फल पर तुम्हारा कोई काबू ही नहीं, तो फिर फल की इच्छा से मन को इस उधेड़बुन में डालने से लाभ क्या? इस फल की तृष्णा के पीछे दौड़ने से मन अन्योन्मुख और अशांत हो जाता है।

कर्म करने का आग्रह करने के साथ-साथ यह उपरोक्त गपटीकरण देना श्रीकृष्ण के लिये आवश्यक था, क्योंकि उसे पहले बताया जा चुका है, वादक कर्मकांड भी उस समय की प्रचलित व्याख्या में कर्म ही कहलाते थे। कृष्ण का कमयोग ऐसे काष्ठीय कर्मों का समर्थन नहीं था।

भागवत धर्म वैदिक कर्मकांड के दौबल्य से दूबा

पड़ा था और इसके साथ ही निवृत्ति-मार्ग का प्रचलन भी स्वधर्म से विचलित करके जन-समूह को आलसी बना रहा था। इन दोनों प्रकार के पथिकों को सक्रिय और निस्वार्थ होकर 'सर्व भूत हिते रता' के ढाँचे में ढालने का श्रीकृष्ण का यह सारा प्रयास था। यही भागवत धर्म था। इसी के उपदेश से गीता आदि से अत तक ओत-प्रोत है।

जहाँ-जहाँ गीता में कर्मयोग का आग्रह है, वहाँ तात्पर्य है केवल स्वधर्म आचरण, लोक-कल्याण के निमित्त किये जानेवाले निष्काम कर्म से, फलो में आसक्ति का विरोध। इसलिए कर्म करने का आग्रह करते समय श्रीकृष्ण को बार-बार यह भी समझाना पड़ा कि कर्म से मेरा तात्पर्य स्वधर्म और कर्तव्य कर्म से है। इसी सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में गीता का अध्ययन करना आवश्यक है।

गीता का आरंभ होता है अर्जुन के विषाद से। "मैं युद्ध नहीं करूँगा" यह कहकर वह मूक होके बैठ जाता है। यह आरंभ है। इसके पश्चात् अर्जुन तरह-तरह के प्रश्न श्रीकृष्ण से करता है। भगवान् प्रेमपूर्वक उसका उत्तर देते चले जाते हैं, और अर्जुन का समाधान करते जाते हैं। अपनी विभूतियों का भी वर्णन करते हैं। विश्व-दर्शन भी कराते हैं। ज्ञानयोग भी समझाते हैं। पर इस सपुट की तह में रहता है सर्वदा तेल की धार की तरह अविच्छिन्न एकमात्र कर्मयोग। इस लंबे उपदेश के बाद गीता का अंत होता है। भगवान् अर्जुन से कहते हैं, "अर्जुन, जो मुझे समझाना था वह तुम्हें बता चुका। अब तुमको जो उचित लगे वही करो।" इस पर अर्जुन कहता है, "मेरा मोह नष्ट हो गया है। मैं स्वस्थ हूँ। अब आप जो कहेंगे सो करूँगा।"

कर्म और संन्यास पृथक् नहीं

अर्जुन ने कहा, “मैं लड़ूँगा नहीं।” और भगवान ने कहा, “कर्म कर, अकर्म से मत चिपट।” अर्थात् युद्ध कर। इसी सिद्धांत को गीताकार ने बार-बार दोहराया है। जैसे एक कुशल संगीतज्ञ एक ही राग की कई तरह की तान आलाप कर उसी राग के स्वरों में चक्कर लगाता रहता है, वैसे ही श्रीकृष्ण ने तरह-तरह से भिन्न-भिन्न शब्दों में एक ही कर्मयोग को सारी गीता में बार-बार समझाया है।

पहिले सांख्य भाग की विवेचना की। उसी के द्वारा आत्मा का अमरत्व और ससार का मिथ्यात्व बताकर बात शुरू की तो अर्जुन उलझन में पड़ गया और कहने लगा कि आपने पहिले ज्ञान की प्रशंसा की, तब क्यों आप मुझे यह घोर कृत्य करने के लिए उन्नीत कर रहे हैं। मेरी बुद्धि इससे विचलित हो रही है। इसलिये कृपया आप मुझे निश्चयपूर्वक एक ही बात बताइए कि जिससे मेरा भला हो।

श्रीकृष्ण ने कहा, “अर्जुन, इस लोक में जसा कि मैंने तुम्हें बताया है, दो निष्ठायें प्रचलित रही हैं। सांख्यो ने निवृत्ति-मार्ग, ज्ञान योग बताया है और योगियो ने कर्मयोग बताया है। पर कम न करने मात्र से मनुष्य कम से नहीं घटता न संन्यास से ही उसे सिद्धि मिलती है। क्योंकि प्राणी एक क्षण के लिए भी कम से रहित हो ही नहीं सकता। प्रकृति के प्रभाव से अवश मनुष्य कुछ न कुछ तो करता ही रहता है। वास्तव में बात तो यह है कि मनुष्य इंद्रियों को कर्मों से हटा भी ले तो भी मन से तो कम करता ही रहता है। ऐसा काय मिथ्याचार और पाखंड है। पर जो मन से इंद्रियों का निग्रह करके, अनासक्त होकर, इंद्रियों द्वारा स्वधर्म का लोक-कल्याण के लिए निरंतर आचरण करता रहता है, वही मनुष्य में उत्तम है। इसलिये तू अपना कर्तव्य

कर्म किये जा। कम न करने से कम करना संभव है। कम छोड़ने से जीवन-यात्रा का भी निर्वाह नहीं हो सकता। इसलिये आलसी मत बन।

“हा, यह जान लेना चाहिए कि जो कम केवल स्वार्थ-बुद्धि से किये जाते हैं और जिनमें जन-समूह की सेवा का नितांत अभाव है, ऐसे कम निश्चय ही बधन में डालनेवाले होते हैं। ऐसे कर्म मनुष्य को गिराते हैं। इसलिये अर्जुन, कर्म कर। पर फलों की आसक्ति छोड़कर लोक-कल्याण के लिए ही।” भगवान ने ससार को उत्पन्न किया। उसके साथ-साथ ही यज्ञों की भी सृष्टि की और मनुष्यों से यह कहा कि यज्ञ तुम्हारी कामधेनु है। तू इनसे फलों और फूलों। इन यज्ञों से अर्थात् इन सत्कर्मों से तू जनता-जनादन की सेवा करे। और जनता जनादन तुम्हारी सेवा करे। इस परंपर के आदान-प्रदान से ही तुम्हारा कल्याण होगा। तू अनासक्त रहोगे तो भी भगवान तुम्हें इच्छित फल तो देगा ही। पर सेवा न करके जो केवल अपना पेट भरने के लिए ही रात-दिन पचते रहते हैं, वे लोग पक्के चोर हैं। जो पुण्यशील हैं वे लोक समूह की सेवा करते हुए अपना उद्धार-पोषण करते हैं। वे सब पापों से घृत जाते हैं। पर जो स्वार्थी केवल अपनी ही चिंता करते हैं, परापकार से विमुख हैं, वे प्रकारांतर में पाप हरे का भोजन करते हैं। सारी वातुय कम से ही उत्पन्न होती है। कम यह भगवान की सत्ता है। भगवान सब-व्यापक और अविनाशी है। कम में भगवान का निवास स्थान है। इसलिये कम को भगवान समझो। कम करना प्रकारांतर में भगवान की सेवा ही है। ससार का यह चक्र कम से ही चलता है। जो कम न करके इस चक्र की गति को बल नहीं देता उसका

जीवन वृथा है।

इसलिए लोभ और फलों की चिपट को छोड़कर सर्वदा निस्वार्थ भाव से अपना कर्तव्य कर्म करता जा। स्वधर्म-विहित कर्म कभी मत छोड़। इसी से ईश्वर की प्राप्ति होगी।

देख, जनक निष्काम भाव से राज करता था। राज करते-करते ही उसे सिद्धि मिली, क्योंकि राज करना कर्तव्य कर्म समझकर उसने स्वार्थ छोड़कर राजपालन किया था। इसलिए कर्तव्य कर्म कभी त्याग नहीं है।

लोगों की सेवा करने का एकमात्र साधन भी तो कर्म ही है। पुण्यशील लोग यदि अपना कर्तव्य छोड़कर आलसी बन जायेंगे तो छोटे लोग भी इस आलसी जीवन का अनुकरण करेंगे। विशिष्ट पुरुष जो रास्ता डालते हैं, साधारण लोग भी उसी का अनुकरण करते हैं। मुझे कर्म करने की क्या जरूरत है। तो भी एक क्षण के लिए भी मैं अपने कर्म की अवहेलना नहीं करता। यदि प्रकृति अपना कार्य बंद कर दे, सूर्य-चंद्र की गति रुक जाये, समुद्र, नदी, नाले, वायु, अग्नि सब अपना-अपना स्वकर्म छोड़ दे तो संसार का नाश हो जायेगा। इसलिए जैसे अज्ञानी लोग कामना से आसक्त होकर कर्म करते हैं वैसे ही विद्वान् अनासक्त होकर केवल प्राणियों के हित के लिए ही कर्म करें। जो मूल्य स्वार्थ से प्रेरित होकर भी सक्रिय रहते हैं, उन्हें भी अक्रिय नहीं बनाना चाहिए। उनका कर्म नहीं छुड़वाना चाहिए। समझदार उनको समझाकर उनकी सक्रिय शक्ति को लोक-कल्याण की ओर प्रेरित करना चाहिए। उस सक्रिय शक्ति को मेटना नहीं, उसका उपयोग ही अभीष्ट है।

प्रकृति सबको नचाती है। मूल्य समझता है कि मैं करता हूँ। पर ज्ञानी जानता है कि ईश्वर की इच्छानुसार ही वह दौड़ रहा है। इसलिए उसकी आसक्ति भी घूट जाती है। जिन मूल्यों में आसक्ति भी हो, तो भी उनके मन

को सक्रिय जीवन से ढावाँडोल नहीं करना चाहिए।

श्रेष्ठ तो यह है कि कर्म करनेवाला व्यक्ति सारा कर्म मुझे ही अर्पण करके मेरी ही उपासना करते हुए फलों में अनासक्त होकर फलों की चिंता भगवान् को सौंपकर अपना कर्तव्य करता चला जाये। इसी से मनुष्य की वासनाओं का नाश होकर उसको बंधनों से मुक्ति मिलती है। जो ऐसा नहीं करेगा, उनका नाश ही समझो। मनुष्य अपनी वृत्ति के अनुसार बाध्य होकर कुछ न कुछ करता ही रहता है। प्रकृति इसे खेचकर ले ही जाती है। उसको वह रोकेंगा कैसे? इसलिए कर्म को न छोड़कर इंद्रियों के सुख-दुखों की अर्थात् इन इंद्रियों की आसक्ति छोड़कर फल के बारे में निस्पृह होकर जो अपने विहित कर्म का पालन करता है, वही श्रेष्ठ है। काम, क्रोध यह दोनों शत्रु हैं। यह दोनों शुद्ध बुद्धि पर आवरण डाल देते हैं। इसलिए इंद्रियों को वश में करके काम क्रोध को छोड़कर अपने कर्तव्य कर्म को करता जा।

मैं जो कह रहा हूँ वह कर्मयोग कोई नया सिद्धांत नहीं है। यह योग परंपरा से चला आता है। मैंने इसे विवस्वान् को उपदेशा। उसने मनु को बताया। मनु ने इक्ष्वाकु को बताया। यह पवित्र भागवत धर्म काल पाकर लुप्त हो गया था। वही मैं आज तुम्हें बता रहा हूँ। इसको जानकर जैसे पूर्वज मुमुक्षुओं ने कर्म का पालन किया था वैसे ही तुम भी अपना कर्म करते रहो।

कर्म की गति गहन है। कर्म क्या है, अकर्म क्या है, और विकर्म क्या है, इसे पूरा समझना चाहिए। जनक राज करता था, पर विदेह कहलता था। अनासक्त था। स्वधर्म के लिए ही उसने राजकाज संभाला। महाभारत में कथा है—एक धर्म ठग था। वह मांस बेचकर जीवन-निर्वाह करता था, पर वह भी धर्मनिष्ठ माना गया क्योंकि वह अपने पैतृक व्यापार को अनासक्त होकर चलाता था।

तुलाधार वैश्य भी जीवनमुक्त था। वह भी वैश्य धर्म का अनासक्त होकर पालन करता था। स्वधर्म का आचरण अनासक्त होकर किया जाये, तो वह कर्म 'यज्ञ' कहलाता है क्योंकि वह कर्म केवल लोक-संग्रह के लिए है। पर केवल इतना ही कहने से कि स्वधर्म का आचरण करते रहो, काम नहीं चलता। यदि चोर कहे चोरी करना मेरा स्वधर्म है तो वह दुराग्रह होगा। वयो ? कर्म को भगवान ने यज्ञ बताया है, पर हरेक कर्म यज्ञ नहीं हो सकता। गीता ने कर्म करने की युक्ति अर्थात् नियम और बंधन की सीमा विस्तारपूर्वक बतायी है। उन नियमों के भीतर जो कर्म किये जाते हैं वे ही यज्ञ हैं। इस परिधि के बाहर के कर्म सारे विकर्म अर्थात् दुषित कर्म हो जाते हैं।

कर्म के कर्ता के अभिप्राय से उसकी मंशा प्रधान है। उस मंशा से ही कर्म का मूल्यांकन होता है। किसी को मारना हत्या है, पर न्यायाधीश यदि किसी को मृत्यु-दंड देता है तो वह हत्यारा नहीं कहा जा सकता क्योंकि न्यायाधीश का अभिप्राय न्याय से है। उन नियमों की परिधि के भीतर घूमने से ही कर्म यज्ञ कहला सकता है। इसलिए इन कर्म योग के नियमों का समझना आवश्यक कर्तव्य हो जाता है।

जिसकी तमाम योजनाएँ कामना अर्थात् स्वार्थ और आकांक्षाओं, तृष्णाओं से शुन्य होती हैं, जिसके कर्म ज्ञान-पूर्वक होते हैं, जो फलों की आसक्ति त्यागकर कर्म करते हैं, जो सदा संतुष्ट रहते हैं, ऐसे लोग जो भी काम करते हैं वे यज्ञ ही हैं। जो आशा के भूकोरों से मुक्त हैं, जिसने मन को वश कर लिया है, सब प्रकार की सामग्रियों में से मन को खींच लिया है वह शरीर से काम करता रहता है तो भी वास्तव में संन्यासी है।

जो मिल जाये उसी में संतुष्ट, सुख-दुःख से विरक्त किसी की उाह नहीं ऐसे को कर्म बंधन में नहीं डालता।

जिसने आसक्ति छोड़ दी, जिसकी बुद्धि विवेक में स्थित है, जो लोक-कल्याण के लिए ही कर्म करता है, वह वास्तव में यज्ञ ही करता है।

कर्म ब्रह्म से उपजे हैं, इसलिए ऐसा समझो कि जो अर्पण किया जाता है वह अर्पण का कर्म ब्रह्म है। दान दिया जाता है, वह सामग्रियाँ भी ब्रह्म हैं। दान लेनेवाला भी ब्रह्म है, दान देनेवाला भी ब्रह्म है। ऐसी जिसकी बुद्धि है वह ब्रह्म को ही पहुँचता है। ऐसे नियमों के बंधन से बँधे हुए कर्म में चोर की चोरी को यज्ञशाला में स्थान कहाँ ?

वास्तव में केवल कर्म का महत्व नहीं है। महत्व है अभिप्राय का, उन नियमों का, उन बंधनों का, जिनके भीतर रहकर ही कर्म किया जाता है। कर्म करनेवाले के अभिप्राय अर्थात् उद्देश्य का ही महत्व है। बंधनों की पाबंदी में जो कर्म किये जाते हैं वही मंशा की कसौटी है।

“जहँ-जहँ ओलों सो परिकरमा, जो कष्ट करों सो सेवा।
जब सोवों तब करों दंडवत्, पूजों और न देवा।
कहाँ सो नाम, सुनौ सो सुमिरन, खावों-पिबों सो पूजा।
गिरह उजाड़ एकसम लेखों, भाव मिटावों दूजा।”

हलवा-भाँडा लानेवाला, इद्रियो के भोगों में डुबा हुआ, मनुष्य दावा नहीं कर सकता कि “खावों पिबों सो पूजा।” यह दावा तो माई का लाल अनासक्त कबीर ही कर सकता था, जो “सुख-दुख से कोई परे परम पद, तोहे पद रहा समाई।”

इन नियमों को समझने के बाद कोई यह कुतर्क नहीं करेगा कि चोर का स्वधर्म भी तो चोरी है और व्यापारी के लिए स्वधर्म में झूठ विहित है।

सत्य के अपवाद बताये गये हैं। पर ऐसे अपवाद भी अनासक्ति के काँटे पर ही तोले गये हैं।

इसलिए कर्म के रूप का नहीं, फलासक्ति-त्याग का माहात्म्य है।

इन नियमों की पाबंदी से हरेक कर्म यज्ञ हो जाता है।

भगवान फिर कहते हैं कि, जो अज्ञानी है, जिसमें भ्रद्धा नहीं है, जो संशय से उगमगाता रहता है, उसके लिए न तो इस लोक में शांति है, न परलोक में। संशयात्मा को कहीं भी सुख नहीं है। पर जिसने कर्मयोग द्वारा कर्मों से आसक्ति हटाकर आत्मा में ही मन लगा लिया है ऐसे कर्मयोगी के लिए कर्मों के बंधन नहीं रहते। इसलिए ज्ञान के द्वारा संशय का नाश करके, हे अर्जुन, 'उठ और कर्मयोग में स्थित हो।

कृष्ण के इस प्रारंभिक प्रवचन से अर्जुन का विषाद तो डीला पड़ गया, पर कृष्ण को तो अर्जुन से कर्म करवाना था। अर्जुन को एक निश्चयात्मक बुद्धि की आवश्यकता थी कि यह जो अपना क्षत्रियोचित कर्म छोड़ वन में जाकर संन्यास लेने की वृत्ति ने उस पर आक्रमण किया है यह उसका स्वधर्म नहीं है। अर्जुन का मन इस वन में भाग जाने की वृत्ति से हिला, पर कर्मयोग पर आरुढ़ होने की श्रीकृष्ण की शिक्षा का अभी तक उस पर पूरा असर नहीं हुआ। उसे कृष्ण की सारी वक्तृता एक खिचड़ी-सी लगी।

इसलिए थोड़ा-सा उखड़कर उसने श्रीकृष्ण से कहा, “कृष्ण, तुम कभी तो संन्यास की प्रशंसा कर गये और कभी कर्मयोग की तारीफ करते हो। कृपया मुझे निश्चय-पूर्वक यह बताओ कि दो में से कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है।” कृष्ण को अब एक निश्चयात्मक उत्तर देने की आवश्यकता पड़ गयी, इसलिए उन्होंने कहा, “अर्जुन, दोनों ही मार्ग कल्याणदायक हैं, पर इन दो के बीच कर्म-संन्यास से कर्मयोग कहीं ज्यादा अच्छा है। संन्यासी उसी को जानो—वस्त्र रँगनेवाले या हिमालय की कदरा में बैठने को नहीं—जो न तो किसी वस्तु से द्वेष करता है और न किसी चीज की इच्छा करता है, जो निर्द्वैत है, अर्थात् अच्छे-बुरे दोनों से निस्पृह रहता है वह बिना कष्ट के बंधनों से घुट जाता है।

संन्यास और कर्मयोग को नादान ही पृथक् समझते हैं।

“वास्तव में समझदार लोग तो यह मानते हैं कि इन दो में से किसी भी एक मार्ग में सम्यक् प्रकार से स्थित हो, तो दोनों का ही उस साधक को लाभ मिल जाता है। सांख्य अर्थात् निवृत्ति-मार्ग और कर्मयोग अर्थात् प्रवृत्ति-मार्ग दोनों को जो एक ही समझता है, वही समझदार है, पर अर्जुन, संन्यास-मार्ग की प्राप्ति कष्टदायक है। किंतु जो कर्मयोगी है वह बिना विलंब के ब्रह्म को प्राप्त करता है। जो कर्मयोगी है, शुद्ध बुद्धिवाला है, जिसने मन को जीत लिया है, और जो अपनी आत्मा को सब प्राणियों में देखता है और सबको अपनी आत्मा में देखता है, वह कर्म करते हुए भी अलिप्त है। इसलिए इन दो में कर्मयोगी श्रेष्ठ है।”

श्रीकृष्ण ने यद्यपि शुरू में गोल-गोल वचनों में अर्जुन को समझाया, पर अंत में तो गीता का जो मर्म है—भागवत धर्म अर्थात् प्रवृत्ति मार्ग, निष्काम कर्मयोग—उसका बिना किसी लल्लो-चप्पो के स्पष्ट शब्दों में अनुमोदन करना आवश्यक था।

इसके पश्चात् तो जब तक अर्जुन का समाधान नहीं हुआ, तब तक इसी सिद्धांत की पुनरावृत्ति होती रही है। कर्मयोग को बार-बार दोहराया, पर साथ-साथ जिन नियमों के बंधन में रहकर कर्मयोग करना चाहिए उसकी भी पुनरावृत्ति भगवान करते ही रहे ताकि अर्जुन को यह भम न हो कि हर कर्म कर्मयोग ही है।

शुद्ध बुद्धि से इंद्रियों का निग्रह करके जो निज और पर में भेद-बुद्धि नहीं रखता, फलों में भ्रनासक्त, राग-द्वेष त्यागकर कामना से रहित होकर जो कर्तव्य समझकर केवल लोकहित के लिए ही कर्म करता रहता है, और फल के संबंध में उदासीन होकर जो कर्ता फल को भगवान के चरणों में छोड़ देता है, वही सच्चा कर्मयोगी है और ऐसे ही कर्म का नाम यज्ञ है।

लोक-कल्याण ही श्रेष्ठ यज्ञ

नारदजी ने व्यासजी से कहा था कि “भगवन्, महा-भारत में आपने भक्ति की कमी रक्खी, इसलिए आपको शांति नहीं मिल रही है। अब आप कोई ऐसा ग्रंथ निर्माण कीजिए, जिससे मनुष्यों में भक्ति का प्रसार हो। इसके फल-स्वरूप आपको शांति मिलेगी। इसी पर व्यास भगवान ने श्रीमद्भगवत् गीता का सृजन किया।

पर भगवद्गीता भी तो महाभारत का ही अंग है और गीता भक्तिमार्ग से शून्य नहीं है। इसलिए यह कहना कि महाभारत में भक्ति को स्थान नहीं है, सर्वथा सही नहीं कहा जा सकता।

भागवत धर्म के अंतर्गत कर्मयोग और भक्ति दोनों का ही समावेश है, जो भगवद्गीता का विशेष विषय रहा है।

पर गीता की भक्ति श्रीमद्भगवत् की भक्ति से भिन्न है। गीता की भक्ति में भावावेश नहीं है। गीता की भक्ति तर्क और बुद्धि के आधार पर अवस्थित है।

वैसे तो गीता के हर अध्याय में कर्मयोग के साथ-साथ श्रीकृष्ण भगवान भक्ति पर भार देते ही रहे हैं। पर बारहवें अध्याय का नामकरण ही भक्तियोग किया है। इसलिए इस अध्याय में भक्ति की विशेष चर्चा है।

भक्ति के संबंध में अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रारंभ में ही भगवान ने अर्जुन को बता दिया कि जो अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, अचिंत्य, कूटस्थ, अचल और ध्रुव सत्ता की पूजा करते हैं, जो सर्वत्र सम बुद्धि रखते हैं, इंद्रियों का निग्रह करते हैं, वे सर्वभूतों के हित की कामना करनेवाले मुझे ईश्वर को ही प्राप्त होते हैं। पर साथ ही अर्जुन को यह भी बता दिया कि देह-धारियों के लिए अव्यक्त ईश्वर की यह उपासना कठिन है। यह कहकर श्रीकृष्ण ने सगुण उपा-

सना को अपेक्षाकृत अधिक सुलभ बताकर इसी पर भार दे दिया और साथ ही इस मार्ग की विस्तारपूर्वक चर्चा भी की।

उन्होंने कहा, “जो सारे कर्म मुझमें अर्पण करते हैं, मेरा ही ध्यान करते हैं, मेरी ही अनन्य भाव से उपासना करते हैं, उनका मैं संसार-सागर से शीघ्र उद्धार कर देता हूँ। इसलिए हे अर्जुन, तू अपना मन मुझ पर ही लगा।

अपनी बुद्धि का निवास भी मेरे ही भीतर कर। ऐसा करने से तेरा निवास भी मेरे भीतर ही स्थित हो जायेगा। जो प्राणी मात्र से मंत्री करता है, दयावान है, जिसमें ‘मैं’ और ‘मेरा’ ऐसी वासना विलीन हो गयी है, सुख और दुःख से जो अतीत है, क्षमावान है, सदा संतुष्ट है, जो यत्नवान है, दृढ़-निश्चयवाला है, मन और बुद्धि को मुझमें संपूर्णतया अर्पण करता है, वह मेरा भक्त है और वह मुझे अत्यंत प्रिय है। जिससे न लोग क्षुब्ध होते हैं, न वह लोग से क्षुब्ध होता है, हर्ष और क्रोध से जो अतीत है, न भयभीत है, जिसने इच्छा का त्याग कर दिया है, शुद्ध है, चतुर है, कामना-रहित है, व्यथा से रहित है, जिसने संकल्पों का त्याग कर दिया है, जो न तो किसी वस्तु से प्रेम करता है और न द्वेष करता है, न चिंता करता है, और न इच्छा करता है, शुभ-अशुभ में जो समान है, मित्र और शत्रु से समान भाव से जो व्यवहार करता है, मान और अपमान में भी जो समान है, ठंडी-गर्मी, सुख-दुःख से विचलित नहीं होता, किसी वस्तु में आसक्ति नहीं है, निंदा-स्तुति में समान है, अधिक नहीं बोलता, जो भी मिल जाये उसी से संतुष्ट है, बुद्धि जिसकी स्थिर है, वह मेरा भक्त है और वही मुझे प्रिय है। इस तरह विस्तारपूर्वक भक्त के यह छत्तीस लक्षण गीताचार्य ने बतलाये हैं। रास-क्रीड़ा की या

तो नाम-स्मरण की कोई महिमा नहीं गायी ।

कर्मयोगी के लक्षणों की ऊपर चर्चा हो चुकी । भक्त के लक्षणों की भी चर्चा हो चुकी । कर्मयोगी और स्थितप्रज्ञ और गुणातीत के लक्षण भी इन्हीं से मिलते-जुलते हैं । इन दो में भेद क्या ? भक्ति को गीताचाय ने एक ऐसे ऊँचे स्तर पर रख दिया है कि उसका रास-क्रीड़ा से मेल नहीं खाता । वास्तविक स्थिति तो यह है कि न तो कर्मयोगी के लिए ही और न भक्तियोग के योगी के लिए ही ससार-सागर से पार करना कोई सस्ता साँदा है । दोनों को ही इन्द्रिय-संयम करके इच्छा, द्वेष इत्यादि का त्याग करके अपने-आपको ईश्वर को समर्पण करना पड़ता है ।

घृत, तिल और जौ की सामग्रियों के एक बड़े सग्राह को नाना भाति के वेद-मन्त्रों के जटाधन और स्वरसहित पाठ के साथ यदि कोई अग्नि में होम कर यह समझता है कि मैंने एक बड़ा भारी यज्ञ करके अपने लिए स्वर्ग का द्वार खोल दिया है, तो वह धोखा खाता है । इन सामग्रियों को जला देना न तो यज्ञ है, न कर्मयोग ही है । वास्तव में मनुष्य-जीवन ही यज्ञ है । यही एक प्रज्वलित अग्नि है । अच्छे कर्मों को लोक-कल्याण के लिए करना यही अग्नि में होम करना है ।

कर्मयोग की विवेचना तो ऊपर हो चुकी है, कर्मयोगी के लक्षण भी बताये जा चुके हैं । उक्त नियमावलि के बंधन-सहित और उच्च हेतु को सामने रखकर जो कर्म किया जाता है वही कर्मयोग है और उसे करनेवाला कर्मयोगी है । इस प्रकार के कर्म करनेवाला ईश्वर की ही पूजा करता है, क्योंकि ऐसे कर्म यज्ञ हैं । यज्ञ भगवान् हैं । इसीलिए कर्म भी ईश्वर हैं । और ऐसे कर्मयोगी अपने कर्मों से ईश्वर की ही पूजा करते हैं ।

इस तरह भक्ति-मार्ग का पथिक जो यह समझता है कि अतः समय में अजामिल की तरह नारायण नाम के

उच्चारण मात्र से, या तो नित्य राम-नाम की एक हजार माला फेर देने मात्र से अतः समय में बैकुंठ से विष्णु के पार्षद आकर यमदूतों को भगाकर नामोच्चारक मृतक की विमान में बैठाकर सीधे बैकुंठ ले जायेंगे, वह भी धोखा ही खाता है । “नर के साथ सूआ हर बोलें, राम प्रताप न जारें ।” बैकुंठ का मार्ग इतना सहल नहीं है । ‘सूली ऊपर सेज पिया की’ इस सूली पर सोना यही एक भक्ति है । पर “यद्ग्रे विषमिव परिणामे अमृतोपमम्” जो प्रारंभ में विष, पर अंत में अमृत है वह ही मुमुक्षु का मार्ग है । कर्मयोगी और भक्त, दोनों का एक ही मार्ग है । मसूर को जब सूली पर चढ़ाया जा रहा था, तब सूली के तख्ते पर से पुकारकर उसने कहा, “इश्कबाजो, यह स्वर्ग की सीढ़ी है । जिसको स्वर्ग चलना हो वह मेरे साथ आ जाये ।” भगवान् का मार्ग यह भोगमार्ग कदापि नहीं है । चाहे वह कर्मयोग का पथिक हो, चाहे भक्ति मार्ग का । इस दुँवी रास्ते में विकट घाटियाँ हैं । “भाति की पहाड़ी नदियों विच अहकार की लाट बडा विकट यमघाट ।” इन दोनों मार्गों के पथिक को भोगों का त्याग करना पड़ता है । पर अंत में तो यही मार्ग “अमृतोपमम्” है ।

“य लब्धवा चापर लाभ मन्यते नाधिकं ततः”—इस लाभ से बढ़कर दूसरा कोई लाभ नहीं है । “यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुस्त्रेणापि विचाल्यते”—इसमें स्थित होने के बाद बड़े से बड़ा दुःख भी मनुष्य को विचलित नहीं करता ।

ऐसे लक्ष्य पर जिसे पहुँचना है, उसके लिए कर्मयोग और भक्ति दोनों ही उपरोक्त नियमों-सहित सस्ते सौदे हैं ।

बारहवें अध्याय में भक्त और उसके लक्षणों का वर्णन है । पर गीता का यह अध्याय वास्तव में अपवाद नहीं है । गीता के हर अध्याय में कर्मयोग और भक्ति दोनों की ही बार-बार स्तुति की गयी है और इनका अनुमोदन आता रहता है । “राग, भय और क्रोध से रहित होकर मुझमें

मन लगाकर जो मेरा आश्रय लेकर ज्ञान से पवित्र हो गये हैं, ऐसे लोग मुझे ही पाते हैं।” फिर कहते हैं, “जो मुझे सब यज्ञ और तपो का भोक्ता और सब लोको का स्वामी और सुहृद् समझता है उसे शांति मिलती है।” “जो मुझे सब भूतों में स्थित समझकर मेरी ही पूजा करता है वह किसी भी हालत में हो, उसका निवास-स्थान मैं ही बन जाता हूँ।” “इसलिए हर समय मेरा स्मरण कर और कर्म कर।” ध्यान रहे, ‘स्मरण कर’ और ‘कर्म कर’।

“जो अनन्य भाव से मेरी उपासना करते हैं ऐसे योगियों के योगक्षेम की देखभाल मैं ही करता हूँ।” “जो बराबर मेरा कीर्तन करते रहते हैं, मेरे सामने नमन करते हैं, वे मेरी ही पूजा करते हैं।” “जो करता है, जो खाता है, जो देता है, जो तप करता है, वे सब मुझे ही अपराण कर।”

दसवें अध्याय में भक्ति को दृढ़ करने के लिए भगवान् अपनी विभूतियों का वर्णन करते हैं। ग्यारहवें में विश्वरूप का दर्शन कराते हैं। आगे चलकर फिर कहते हैं— “एकाग्र होकर भक्ति द्वारा जो मेरी सेवा करता है वह तीनों गुणों को पार करके स्वयं ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है।”

इस तरह सारी गीता में कर्मयोग और भक्ति दोनों का निरंतर आदेश और अनुमोदन जारी रहता है। कुछ श्लोक कर्मयोग की स्तुति के आते हैं, तो उसके पश्चात् शीघ्र ही भक्ति की प्रशंसा भी आ जाती है। इस तरह कर्म और भक्ति दोनों का सारी गीता में समिश्रण है।

बीच-बीच में अर्जुन अपने समाधान के लिए शका उठाता रहता है और श्रीकृष्ण उत्तर देते चले जाते हैं।

अर्जुन का विषाद तो समाप्त हो गया, पर बीच-बीच में अपने मन को संपूर्ण सतोष देने के लिए वह प्रश्न भी करता रहता है। जब काफी समाधान हो चुका, तब अंतिम समाधान के लिए फिर प्रश्न करता है—“हे कृष्ण, मुझे संन्यास का पूरा तत्व समझाइए और त्याग का तत्व

भी पूरा बताइए।” जब कृष्ण उत्तर में कहते हैं, “अर्जुन, जो कर्म कामना और स्वार्थ के लिए किये जाते हैं, उनका त्याग ही संन्यास है और कर्म के फलों में अनासक्त रहना इसी का नाम त्याग है।” “कुछ आचार्यों ने कहा है कि सभी कर्मों को पाप समझकर उनका त्याग कर देना चाहिए। पर दूसरे आचार्यों ने यह भी कहा है कि यज्ञ, दान और तप यह छोड़ने की चीजें नहीं हैं। इस पर मेरा निश्चित मत जो है, वह भी सुन। वह यह है कि यज्ञ, दान, तप कभी त्यागना नहीं क्योंकि यह मनुष्य को पावन करनेवाला है।

“देहधारी के लिए कर्म का सर्वथा त्याग असंभव है, इसलिए जिन्होंने कर्म-फल की आस छोड़ दी है उन्हें ही त्यागी कहना चाहिए। जिसने अहंभाव त्याग दिया है, जिसकी बुद्धि कर्मों में आसक्त नहीं है, वह यदि किसी का हनन भी करता है, तो वह मारने के दोषों से मुक्त है। जो मनुष्य अपना नित्य कर्म नहीं छोड़ता, वह अपने कर्तव्य कर्म द्वारा ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

“जिस ईश्वर से भूत प्राणी उत्पन्न हुए हैं, और जिससे यह सारा ससार व्याप्त है, उसकी अपने कर्म द्वारा उपासना करने से ही सिद्धि मिलती है। कर्तव्य कर्म यदि दोष युक्त भी लगे तो उसे त्यागना नहीं चाहिए, क्योंकि जैसे धूम में अग्नि छिपी रहती है, उसी तरह शुभ कर्म भी कभी-कभी दोषों से आच्छादित दीखते हैं। पर अनासक्त होकर, मन को जीतकर, कामना छोड़कर कर्म दोष से आच्छादित लगते हो, तो भी कर्तव्य कर्म के पालन से विमुख नहीं होना चाहिए, क्योंकि कर्म करने से ही सिद्धि मिलती है। जो ब्रह्म में लीन है वह न तो इच्छा करता है न चिन्ता करता है, सब प्राणियों को सम दृष्टि से देखता है, वह असल में मेरी ही भक्ति करता है। जो तमाम कर्म करता हुआ भी मेरे आश्रय में रहता है उसे ही शाश्वत शांति मिलती है।”

भगवान और अर्जुन में काफी प्रश्नोत्तर हो चुके थे। अर्जुन का समाधान भी हो रहा था, तो भी बीच-बीच में अर्जुन प्रश्न करता ही जाता था। अर्जुन नर का अवतार था। भगवान नारायण के अवतार थे। अब इस प्रश्नोत्तरी का अंत करने के लिए नारायण के अवतार श्रीकृष्ण ने नर के अवतार अर्जुन को कहा, “अर्जुन, सुन, मेरा ध्यान कर, इसी से तेरी सारी कठिनाइयाँ निमूल हो जायेंगी, पर यदि अहंकार के वश में आकर मेरा परामर्श तू नहीं सुनेगा तो तेरा नाश हो जायेगा। यदि तू अहंकार के वश में आकर यह समझता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, अर्थात् अपना कर्तव्य कर्म नहीं करूँगा तो तेरा यह निर्णय मिथ्या है, क्योंकि तेरी प्रकृति ही तुझे खेंचकर कर्मों की ओर ले जायेगी।

“मनुष्य अपने स्वभाव से बंधा हुआ विचरता है। इस-लिए तू न भी चाहेगा, तो भी कर्म तो करना ही होगा। ईश्वर सबके हृदय में बैठा तमाम भूत प्राणियों को चलाता रहता है, इसलिये अहंकार को छोड़कर भगवान की शरण में जाकर अनासक्त होकर अपना कर्तव्य कर्म करता जा। मन मुझमें लगा, मेरी ही भक्ति कर, मुझे ही नमन कर। फिर तेरा मुझमें ही समावेश हो जायेगा। इसको मेरी प्रतिज्ञा समझ। इस तर्क-वितर्क को समाप्त करके अब तू मेरी शरण में आ जा। मैं तेरी रक्षा करूँगा। चिंता छोड़।” श्रीकृष्ण के इतना कहने के बाद अर्जुन सदेह-रहित हो गया। उसकी ज़बान को ताला लग गया। हृदय की अज्ञान की गाँठ टूट गयी। ज्ञान का प्रकाश हो गया। तब कृष्ण ने पूछा, “क्यों अर्जुन, अब तेरा सदेह गया या नहीं?” अर्जुन ने कहा, “हे अच्युत, मेरा सदेह मिट गया। अब मैं तुमने जैसा बताया, वैसे ही अपने कर्तव्य कर्म में लगूँगा।”

कर्मयोगी के अथवा भक्त के लक्ष्णों के उपरोक्त विवरणों से पता चलेगा कि इन दोनों के सब लक्षण एक ही समान हैं। समुद्र का पानी चाहे बंगाल की खाड़ी में से

उठाओ या हिन्द महासागर से अथवा तो पश्चिम के समुद्र से उठाओ, सभी एक ही समान लवण-जल हैं। उसी तरह गीता में पुनरुक्तियाँ भरी पड़ी हैं और जान-बूझकर ठगसजो ने रखी हैं। पर वे सारे के सारे उपदेश एक ही समान हैं।

गीता का स्वाध्याय हितकर है, पर संक्षेप में यदि दूसरे अध्याय के स्थितप्रज्ञ के लक्ष्णों का हम मनन करें या बारहवें अध्याय के भक्तों के लक्षणों को पढ़ें अथवा तो चौदहवें अध्याय के गुणातीतो का आचरण या सोलहवें अध्याय में दैवी संपदावाले का लक्षण पढ़ें, तो वे सब के सब एक ही समान प्रेरक होंगे।

श्रीकृष्ण गीता के द्वारा न केवल अर्जुन को पर सारे मनुष्य-समाज को उपदेश देते हैं। पर वे उपदेशागत को घोलकर बलात् किसी को पिला नहीं सकते। मुमुक्षु को सीढ़ी पर चढ़ने के लिए स्वयं ही परिश्रम करना पड़ता है। यदि वह स्वयं साधना की अवहेलना करे तो गीता या अन्य किसी भी शास्त्र का स्वाध्याय बेकार है।

इन सब कड़े प्रतिबन्धों से जो कर्मयोगी और भक्त के लिए एकसमान हैं, साधक को निराश नहीं होना चाहिए। भगवान भीतर बैठा है, पुकारने मात्र की आवश्यकता है। आत्मज्ञान दुर्लभ नहीं है। पर मुमुक्षुत्व चाहिए। आलसियों के लिए ईश्वर का मार्ग दुर्लभ है। भक्त साधकों के लिए वह अत्यंत सरल है।

“राम कहै सुग्रीव सो लंका कितीक दूर,

आलसियाँ अलगी घरी, उद्यम हाथ हज़र।”

संक्षेप में गीता का सार यह है। अपने कर्तव्य कर्म को कभी न छोड़। लगन से अपने स्वधर्म का आचरण करता जा। शुभ हेतु से सब प्राणियों की सेवा के लिए ही कर्म कर। फल के पीछे मत दौड़। इंद्रियों के भोगों से विरक्त हो। मन और बुद्धि पर निग्रह रख। भगवान में भरोसा रख। जो कर्म करे, वह उसी को अर्पण कर।

अहर्निश उस प्रभु का स्मरण कर। ईश्वर मे और तुममें कोई भेद नहीं है, क्योंकि तुम्हारे में और अन्य भूतों में सब वही एक सत्ता व्यापक होकर स्थित है। इसी तरह तुम भी सभी में स्थित हो। इसलिए जो ब्रह्म है वह ही तुम हो। तुम भी ब्रह्म हो। द्वंद्वों से मुक्त रहो, सुख-दुःख व मान-अपमान को समान समझो। चिंता छोड़ दो। उसका ध्यान अर्थात् सब प्राणियों में जो वह स्थित है उसी ईश्वर का ध्यान करो। इसका तात्पर्य यह है कि सब प्राणियों का ध्यान अर्थात् उनके हित के लिए ही कर्म करो।

“आदम खुदा नहीं, पर आदम खुदा से जुदा नहीं”— यह विश्व यही विराट् स्वरूप है। यही विश्व-दर्शन है। ईश्वर-दर्शन भी यह ही है। तू भी वही है—“तत्त्वमसि।” जनक इत्यादि राज करते हुए, कर्म करते हुए भी, अनासक्त रहे। धर्म व्याध और तुलाधार भी कर्मों में अनासक्त थे। उन्हीं का अनुकरण करो। भगवान् अपनी रचित सृष्टि और संसार के भंभटों में रमते हुए भी कमल जैसे जल में अलिप्त रहता है वैसे ही अलिप्त रहते हैं। तुम भी वैसे ही आचरण करो।

इतना कहने के पश्चात् भी अंत में जो तुम्हारी इच्छा हो सो करो।

इस पर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा, “मैं स्वस्थ हूँ। अब आप जो कहोगे वही कहूँगा।” यह गीता का सार है।

हरेक अध्याय में विचरण करते हुए हम यह देखेंगे कि जो उपरोक्त सार बताया है उसी की सारी गीता में पुनरावृत्ति है। समुद्र का सारा जल, उसकी तरंगें, उसकी बूँदें एक ही प्रभु की सत्ता का चित्र हैं। एक ही शक्ति विश्व में व्याप्त है। द्वैत को कोई स्थान नहीं।

“अहं ब्रह्मास्मि” या “तत्त्वमसि” का भी अर्थ यही है।

व्यासजी की कृपा से संजय को महाभारत युद्ध देखने के लिए दिव्य-दृष्टि और सुनने के लिए दिव्य श्रवण-शक्ति मिल भी गयी थी। इसलिए वह दूर बँठा-बँठा भी युद्ध की सारी क्रियाएँ देखता रहता था, और वहाँ जो कुछ होता था उसे सुनता भी रहता था। यह सब देख और सुनकर सारा विवरण धृतराष्ट्र को सुनाता रहता था। उसने जब कृष्ण-अर्जुन के इस अद्भुत वार्तालाप को अपनी दिव्य श्रवण-शक्ति से सुना, तो वह विह्वल हो उठा और धृतराष्ट्र से कहने लगा, “राजन्, इस अद्भुत पुण्य सवाद को सुनकर मैं गदगद हो रहा हूँ और उसे याद करके और भगवान् के अद्भुत स्वरूप को स्मरण करके मुझे महान् विस्मय हो रहा है, और बार-बार हर्ष हो रहा है। हे राजन्, मेरा निश्चय सुनो—जहाँ कर्मयोगी-योगेश्वर कृष्ण के रूप में कोई भी कर्मयोगी है, और जहाँ अर्जुन के रूप में लगन वाला परिश्रमी कोई भी उद्योगी साधक है वहाँ निश्चय ही श्री है, विभूति है, विजय है और आनंद है। यह मेरा निश्चित मत जान लो।”

भागवत के कृष्ण उपास्य पर महाभारत के अनुकरणीय

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, नारद के आग्रह पर ही व्यास भगवान ने महाभारत के बाद भागवत लिखी। यह भी उपर बताया गया है कि श्रीकृष्ण ने ही भागवत धर्म का पुनः स्थापन किया। महाभारत और भागवत दोनों इसी प्रवृत्ति प्रधान कर्मयोग और भक्ति के समर्थक हैं। यद्यपि दोनों ही इस भागवत धर्म के प्रचारक हैं, पर जहाँ भागवत की भक्ति भावनामय है, महाभारत की भक्ति भागवत की इस भक्ति से कुछ भिन्न है। महाभारत की भक्ति में वेदांत और बुद्धि को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। इस भेद के कारण भागवत के कृष्ण और महाभारत के कृष्ण में भी अंतर है। यह अंतर महाभारत के कृष्ण के जीवन के गहरे अध्ययन से साफ-साफ प्रदर्शित होता है। भागवत के कृष्ण उपास्य हैं। महाभारत के अनुकरणीय हैं। यह पहिले भी कहा जा चुका है।

नारदजी के प्रस्ताव पर ही व्यास भगवान ने भक्ति-मार्ग का यह ग्रंथ भागवत रचा। भागवत के मुख्य चरित्र श्रीकृष्ण हैं। उनको व्यास भगवान ने साक्षात् विष्णु मानकर उनके चरित्र में ऐसी कथाओं को ही स्थान दिया है जिससे भक्तों के हृदय में श्रीकृष्ण का माहात्म्य प्रकट हो और जनता में भक्ति का प्रचार हो।

यह शायद सबको ज्ञात भी न हो कि भागवत में श्रीकृष्ण की एक जगह तो चौबीस अवतारों में गणना की, पर आगे चलकर इन अवतारों की सूची में से उनका नाम काट दिया गया क्योंकि श्रीकृष्ण को भागवतकार ने जब साक्षात् भगवान मान लिया तो फिर अवतार कैसे माना जाये? इसलिए भागवत के श्रीकृष्ण के चरित्र को एक महापुरुष का जीवन-चरित्र मानना भूल होगी। फलतः भागवत के

श्रीकृष्ण की तो भक्ति ही हो सकती है। उनका अनुकरण नहीं हो सकता। वे केवल उपास्य हैं।

पर महाभारत की रचना अलग है और उसके कृष्ण भी भिन्न हैं। महाभारत का उद्देश्य भी अलग है। यह एक अद्वितीय ग्रंथ है। इसमें महापुरुषों का और उनके गुण-दोषों का ऐसा सांगोपांग चित्र खींचा गया है, जिससे सर्व-कालीन पाठकों को यह ज्ञान हो जाये कि कोई भी शरीरधारी पुरुष चाहे ऊँचा हो या नीचा, उसका जीवन लोकसंग्रह के लिए और लोगों के सामने उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए ही है, इसलिए जो महान हैं उन्हें भी जनहित के लिए कभी-कभी एक ऐसा कर्म करना पड़ता है, जो दोषयुक्त दिखायी पड़ने पर भी उत्कृष्ट है।

क्योंकि कर्ता का उद्देश्य जन-कल्याण का है, इस हेतु को लेकर महाभारत में व्यासजी ने नीति और व्यवहार का एक अद्भुत समन्वय कर दिया है और प्रकारांतर में यह बताया है कि जिस नीति से व्यवहार नहीं सधता वह नीति, नीति नहीं और जिस व्यवहार में नीति का लोप है वह व्यवहार नहीं, अधर्म है। यह कमाल का समन्वय है।

इसलिए महाभारत के पात्रों का चित्र खींचते समय व्यासजी ने न तो पूजनीय के दोषों पर परदा डाला है और न अपूज्यों के गुणों को छिपाने का प्रयत्न किया है। यह व्यासजी की अद्भुत करामात है जिसको मनन करना, उसे पूरा समझना और समय उपस्थित होने पर उसका अनुकरण करना हर काल के पाठकों के लिए, चाहे वह आज के हो या हजार वर्ष बाद के, अत्यंत सारभूत है।

महाभारत में सबसे वरिष्ठ पात्र श्रीकृष्ण ही हैं। इसलिए उनकी कथाओं को समझना हमारी जीवन-यात्रा को सुगम

बनाने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

श्रीकृष्ण का चरित्र बड़ा गहन और अद्भुत है। अवतारवाद की अवहेलना भी करे तो भी यह गहन हो रह जाता है। पंडितों ने कृष्ण-चरित्र का गहराई से अध्ययन किया है, बहुत कुछ लिखा है। दो हेतुओं से—एक भक्त बनकर, दूसरा अपने जीवन में कृष्ण के चरित्र को उतारने के लिए। भक्तों के लिए भागवत के कृष्ण उपास्य हैं। पर जो श्रीकृष्ण के चरित्र से अपनी लोकयात्रा के मार्ग को सुगम और नीतिमत् बनाने के लिए अनुकरण करना चाहते हैं उन्हें महाभारत के कृष्ण का चरित्र एक दीपशिखा का काम देता है। उसके अध्ययन से यह समझ में आ जायेगा कि कयो ऋषियों ने श्रीकृष्ण को धीर, बुध, कवि, प्राज्ञ, योगेश्वर और पंडित कहा है।

व्यासजी ने महाभारत में जो श्रीकृष्ण का चरित्र लिखा है वह भवतार का नहीं, पर एक महान पुरुष का है। उसको लिखने में श्रीकृष्ण की दूरदर्शिता दिखायी है और उनके दोषों को भी इस कारीगरी के साथ गुणों में परिणत किया है कि पाठक पढ़ जाता है और उसे कल्पना भी नहीं होती कि कृष्ण पर कोई दोष भी आरोपित किया गया।

श्रीकृष्ण का पांडवों पर अत्यंत प्रेम और अनुग्रह था। उनका प्रथम संपर्क द्रौपदी के स्वयंवर के बाद ही पांचाल में होता है। यद्यपि स्वयंवर में श्रीकृष्ण भी यादवों के साथ सभा में उपस्थित थे, पर उन्होंने मत्स्य-वेध के लिए कोई प्रयास नहीं किया, क्योंकि उनको पूरा विश्वास था कि अंत में पांडव ही जीतेगे। और यद्यपि श्रीकृष्ण का उनसे संपर्क नहीं था, पर बिना संपर्क के भी पांडवों के प्रति उनका पक्षपात बन गया था। इसका यह भी कारण था कि श्रीकृष्ण को पांडवों के प्रति कौरवों द्वारा किये गये अन्याय का दर्द था। पाँचों पांडवों की माता कुंती श्रीकृष्ण की फुफी होती थी। कुंती श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव की बहिन

थी। यादवों में एक सरदार कुंतिभोज थे। उनको कोई सतान नहीं थी। इसलिए वसुदेव ने अपनी बहिन, जिसका नाम पृथा था, कुंतिभोज को दत्तक रूप में सौंप दी। कुंतिभोज ने पृथा को दत्तक लेकर उसका नाम कुंती रखा। इस तरह यद्यपि पांडव श्रीकृष्ण के निकटस्थ संबंधी थे, तो भी उनका प्रथम संपर्क द्रौपदी स्वयंवर के बाद ही होता है। पर इतने वर्षों तक वे एक-दूसरे से नहीं मिले यह भी कुछ आश्चर्यजनक बात है। इस संपर्क के बाद घनिष्ठता बढ़ हो गयी और पांडव श्रीकृष्ण के अत्यंत प्रिय पात्र बन गये।

अर्जुन तो मानो श्रीकृष्ण का प्राण ही था। पर पाँचों पांडवों के प्रति श्रीकृष्ण का अनुराग और पक्षपात इतना स्पष्ट था कि समय-समय पर आवश्यकता होने पर श्रीकृष्ण ने सीधे मार्ग से विचलित होकर भी पांडवों की सहायता की। यह महाभारत में स्थान-स्थान पर स्पष्ट है।

द्रौपदी का पाँचों भाइयों के साथ विवाह हो जाने के बाद भीष्म पितामह और धृतराष्ट्र के अन्य सलाहकारों ने धृतराष्ट्र पर दबाव डाला कि पांडवों से बँर रखने में कौरवों को खतरा है, इसलिए कुछ दबाव में आकर, कुछ उरकर धृतराष्ट्र ने दुर्योधन और युधिष्ठिर के बीच राज्य का बंटवारा कर दिया, और खाउवप्रस्थ की राजधानी स्थापित करके युधिष्ठिर को वहाँ का राजा बना दिया। युधिष्ठिर के राजतिलक के उपलक्ष्य में श्रीकृष्ण ने स्वयं उपस्थित होकर पांडवों को शुभकामनाएँ और आशीर्वाद प्रदान किया।

खाउवप्रस्थ एक वीरान जगह थी। न तो वहाँ पानी था, न हरियाली। पर श्रीकृष्ण के आग्रह पर इंद्र ने अनुग्रह करके वहाँ काफी वृष्टि की, और उस निर्जन स्थान को सरसब्ज बना दिया। इसलिए युधिष्ठिर ने खाउवप्रस्थ का नाम बदलकर इंद्रप्रस्थ कर दिया। राजा होकर युधिष्ठिर न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा। अमन-चैन स्थापित हुआ और युधिष्ठिर लोगों में प्रिय हो गया।

महापुरुष श्रीकृष्ण—नीति और व्यवहार का विलक्षण समन्वय

इसी बीच एक ऐसी घटना घटी जिसके कारण अर्जुन को एक साल के लिए इंद्रप्रस्थ छोड़कर तीर्थयात्रा के लिए बाहर जाना पड़ा। इस दिलचस्प घटना का महाभारत में पूरा विवरण है। तीर्थ-यात्रा में उसने दक्षिण के सारे तीर्थों की यात्रा की और उसके बाद वापस लौटने लगा तो उसका मन द्वारिका जाने का हो गया। श्रीकृष्ण तो वहाँ थे ही, पर इस यात्रा का हेतु कुछ और ही था।

असल बात यह थी कि श्रीकृष्ण की बहिन सुभद्रा के रूप और गुणों की ख्याति अर्जुन तक पहुँच चुकी थी और इसका उसे अत्यंत आकर्षण था। सुभद्रा को देखे बिना ही वह उस पर मुग्ध था।

द्वारिका जाने में उसका उद्देश्य सुभद्रा को देखना था। पर साथ ही वह नहीं चाहता था कि द्वारिका में किसी को भी पता लग जाये कि अर्जुन द्वारिका आया है। इसलिए शरीर पर विभूति रमाकर, हाथ में त्रिशूल लेकर, यति का वेश धारण करके वह द्वारिका पहुँचा, और एक वृक्ष के नीचे आसन जमाकर आँख मूँदकर ध्यानार्तिष्ठित होकर उसने अपना डेरा जमा लिया।

अब तो सारे द्वारिका में उसकी ख्याति फैल गयी। एक बड़ा साधु महात्मा आया है। द्वारिका-निवासी उसके दर्शन के लिए झुंड-के-झुंड उमड़ पड़े। बलरामजी भी उसके दर्शन के लिए पहुँचे। पर वे अर्जुन को पहचान नहीं पाये। श्रीकृष्ण भी गये, पर उनसे यह भेद छिपा नहीं रहा। उन्होंने इस छद्मवेशी अर्जुन से मजाक में कहा, “अर्जुन, यह क्या तमाशा लाये हो?” अर्जुन ने कहा, “मुझसे क्या पूछते हो? आप तो जानते ही हो कि मैं सुभद्रा पर मोहित हूँ और उससे विवाह करना चाहता हूँ।”

श्रीकृष्ण ने कहा, “मैं तुम्हारी सहायता करूँगा। पर पहिले यह तो जान लो कि सुभद्रा भी वही चाहती है क्या जो तुम चाहते हो? यदि सुभद्रा की इच्छा तुम्हारे अनुकूल है तो उसे उठाकर ले जाओ। क्षत्रियों की यही परंपरा है। तुम भी उसी मार्ग का अनुसरण करो।”

इधर बलरामजी पर इस ‘यति’ की गहरी छाप पड़ी। उनका प्रस्ताव था कि यतिजी को सुभद्रा के उद्यान में ही एक खंड में ठहरा दिया जाये, ताकि सुभद्रा को यति की सेवा करने और उनसे आशीर्वाद प्राप्त करने का अवसर मिले। श्रीकृष्ण भीतर से तो इस प्रस्ताव से सहमत थे। पर दिखावे के लिए उन्होंने उस प्रस्ताव का विरोध किया और कहा कि हमको पता नहीं कि यति कैसा भ्राम्यमी है। इसलिए इसको स्त्रियों के खंड में ठहराना उचित नहीं है। यति और सुभद्रा दोनों युवा हैं, इन दोनों का ज्यादा संपर्क होना अच्छा नहीं है। पर बलरामजी ने श्रीकृष्ण को उलटा फटकारा। यति के चरित्र पर शंका करना पाप है।

आखिर यति को सुभद्रा के महल में डेरा दे ही दिया गया। सुभद्रा को पता नहीं था कि यति कौन है। पर उसने भी अर्जुन की ख्याति सुन रखी थी। वह मन ही मन संकल्प कर चुकी थी कि अर्जुन से विवाह करूँगी। यति की सेवा-सुश्रूषा करते एक दिन सुभद्रा ने पूछा, “महाराज, आप तो सारे देशों का पर्यटन करके आये हैं, आपने कभी अर्जुन को भी देखा है? वह कैसा है? मैंने उसकी प्रशंसा सुनी है, पर उसके संबंध में आपसे जानना चाहती हूँ।”

अर्जुन ने अब अपने-आपको सुभद्रा से छिपाना उचित नहीं समझा और उसने सुभद्रा से कहा, “देवी, अर्जुन तो तुम्हारे सामने ही बैठा है।” अर्जुन सुभद्रा पर मुग्ध था और

सुभद्रा अर्जुन पर मोहित थी। पर इस भेद के खुल जाने पर सुभद्रा ने यति से संपर्क रखना उचित नहीं समझा और यति के सामने आना-जाना बंद कर दिया। फलतः मन ही मन संतप्त होकर वह रुग्ण हो गयी।

क्या करना चाहिए उसे समझ में नहीं आया। अर्जुन निकट होकर भी दूर था। उसके वियोग के मारे वह खिन्न रहने लगी। यति की सेवा-सुश्रूषा उसने छोड़ दी। उसके स्थान पर अब रुक्मिणी यति की सेवा में जाने लगी।

रुक्मिणी को तो इस सारे भेद का पता था ही। उसने श्रीकृष्ण से सुभद्रा की विकलता का वर्णन किया। सुभद्रा की रुग्णावस्था के निवारण के लिए श्रीकृष्ण ने बलरामजी से एक प्रस्ताव किया कि पास के एक द्वीप में शंकर का एक मंदिर है। वहाँ दो सप्ताह शंकर की पूजा की जाये जिससे कि सुभद्रा का रोग-निवारण हो। यह प्रस्ताव सबको पसंद आया और सारे के सारे मुख्य यादव द्वारिका छोड़कर शंकर की पूजा के लिए उस द्वीप में चले गये। अब सुभद्रा और अर्जुन द्वारिका में अकेले थे।

जाने के पहिले श्रीकृष्ण ने सुभद्रा से कहा, “सुभद्रा, आज से बारहवाँ दिन शुभ दिन है। उसी दिन तुम दोनों विवाह संपन्न करो। मैं जाता हूँ, आगे का काम तुम दोनों का है। अर्जुन को भी मैंने सब बात समझा दी है।”

बारहवें दिन अर्जुन ने सुभद्रा से कहा, “सुभद्रा, श्रीकृष्ण ने तुम्हें सब बता ही दिया है, वह शुभ दिन आज आ गया है। श्रीकृष्ण का आशीर्वाद है, हम क्षत्रिय हैं। गांधर्व विवाह क्षत्रियो को विहित है। उसके अनुसार हम आचरण कर रहे हैं। अब रथ तैयार कराओ और मेरे साथ चलो। सुभद्रा ने अर्जुन के कथनानुसार सारी तैयारी कर ली।

श्रीकृष्ण द्वीप में जाने के पहिले ही अपने रथ और अस्त्र-शस्त्रों को जान-बूझकर पीछे छोड़ गये थे, जिससे कि समय पर अर्जुन उनका उपयोग कर सके। सुभद्रा रथ हाँकने

में दक्ष थी। इसलिए सुभद्रा सारथी की जगह रथ पर बैठी और अर्जुन पीछे बैठा। सुभद्रा ने घोड़े पर चाबुक फटकारी और उनका रथ बड़े वेग से आगे बढ़ चला। द्वारपालों ने जब देखा कि सुभद्रा को कोई हरण करके ले जा रहा है, और हरण करनेवाला अर्जुन-जैसा लगा, तो उन्होंने हो-हल्ला मचाया। रथ को रोकने की चेष्टा की, पर रथ तो इतनी देर में बड़े वेग से आगे निकल चुका था।

वृष्णि योद्धाओं को जब यह खबर मिली कि सुभद्रा का हरण हुआ है, तो वे लोग शीघ्र ही द्वारिका लौट आये और क्रोध के मारे आग-बबूला होकर अर्जुन को पकड़ने की योजना गढ़ने लगे। बलरामजी तो क्रोध से लाल हो गये, “मैं सब पाउवों को मारकर इंद्रप्रस्थ को तहस-नहस कर दूँगा।” पर श्रीकृष्ण चुपचाप सुनते रहे। बलरामजी ने जब देखा कि कृष्ण मौन हैं, तब उन्होंने कहा, “कृष्ण तुम चुप क्यों हो? मानूँ होता है तुम्हारा भी इस षड्यंत्र में कुछ हाथ है।”

श्रीकृष्ण ने कहा, “बलरामजी, मैंने तो आपका विरोध किया था कि दोनों को एक-दूसरे के निकट रखना वांछनीय नहीं है, पर आपने मेरी बात नहीं मानी। खैर, अब क्रोध की क्या बात है, दोनों एक-दूसरे को चाहते हैं, अर्जुन वीर है, हमारा संबंधी है, क्षत्रिय है, उससे अच्छा वर सुभद्रा को और मिलेगा भी कहाँ? इसमें बुरा क्या हुआ है।” श्रीकृष्ण का यह कथन सुनकर बलरामजी भी शांत हो गये।

इधर अर्जुन इंद्रप्रस्थ पहुँच गया। द्रौपदी और अन्य सब भाइयों की अनुमति और शुभ-कामना पाकर दोनों का विवाह हो गया। उस समय बलरामजी श्रीकृष्ण और अन्य वृष्णि वंशी भी इंद्रप्रस्थ पहुँच गये थे। उन्होंने विवाह में उपस्थित होकर वर-वधू को आशीर्वाद दिया। सब यादवों के आशीर्वाद के साथ इस प्रकार यह उत्सव सानंद समाप्त हुआ।

यह स्पष्ट है कि इस सारी घटना में चतुराई और छल-कपट का बाहुल्य था, जिसमें श्रीकृष्ण, अर्जुन, सुभद्रा सभी हिस्सेदार थे, पर इतने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें कोई दूषित बात हुई। जैसा कि श्रीकृष्ण ने कहा, “अर्जुन हमारा संबन्धी है, क्षत्रिय है, वीर है, योग्य है, सुभद्रा और अर्जुन दोनों एक-दूसरे को चाहते हैं, तो फिर दोष क्या हुआ?” व्यवहार सही था और निर्दोष भी, ऐसी हालत में चतुराई और छल-कपट इतना ही बताता है कि कृष्ण व्यवहारकुशल थे, पर नीति के विरुद्ध उन्होंने कोई कार्य नहीं किया।

यह तो एक उदाहरण है। कृष्ण के विराट चरित्र में अनेक ऐसी घटनाएँ मिलती हैं जहाँ श्रीकृष्ण ने चतुराई और छल-कपट को व्यवहार में अपनाया। पर उन्होंने नीति का उल्लंघन किया हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि

श्रीकृष्ण पंडिताऊ बनकर व्यवहार में कच्चे साबित होते तो वे न अवतार माने जाते और न महापुरुष ही कहलाते।

अवतार समाज को नेतृत्व देता है, प्रेरणा देता है। इसलिए महा-बुद्धिमान, दूरदर्शी, दुष्टों का दमन करने वाला ऐसा नेता संतो को सुखदायक होता है। स्पष्ट है कि ये गुण और विवेक कोरे बुद्ध में नहीं हो सकते। इसलिए नेता में, चाहे वह अवतार हो या महापुरुष, व्यवहारकुशलता, नीति और धर्म—ये सभी गुण होने आवश्यक हैं।

सुभद्रा-हरण का उदाहरण मैंने संक्षेप में लिखा है, पर श्रीकृष्ण के जीवन की घटनाओं में केवल यही एक उदाहरण नहीं है। असल में तो महाभारत में ऐसी अनेक घटनाओं का उल्लेख है जिनके अनुसार समाज के कल्याण के लिए आवश्यक होने पर श्रीकृष्ण ने चतुराई, छल और कपट का उपयोग किया और वह भी बिना किसी संकोच के।

निर्दय को दंड और निर्बल पर दया

उस समय की प्रथा के अनुसार, चक्रवर्ती राजा की सर्वमान्य दुहाई होने के लिए आवश्यक माना जाता था कि वह एक राजसूय यज्ञ करे। पर इसकी सफलता के लिए यह भी नियम था कि राजा अन्य सब राजाओं को जीतकर उनके प्रदेशों में अपनी दुहाई फिरवा दे। अतः युधिष्ठिर के राजतिलक के बाद पांडवों के निकटस्थ लोगों ने उन्हें सुझाव दिया कि वे राजसूय यज्ञ करे। युधिष्ठिर स्वभावतः शांतप्रकृति का मनुष्य था, इसलिए उसे इन झमेलों में पड़ने का कोई उत्साह नहीं था। दूसरी ओर भीम और अर्जुन दोनों ही का इस पर अत्यंत आग्रह था। युधिष्ठिर ने कहा, “इस यज्ञ के सिलसिले में अनेक राजाओं से युद्ध करना पड़ेगा और उन्हें हराकर सर्वथा वशीभूत करना आवश्यक होगा। इसमें भारी हिंसा होगी, जो मुझे अप्रिय है।

“इसके अलावा, एकछत्र राज्य घोषित करने के लिए अन्य राजाओं को हराना है, तो जरासंध को कैसे छोड़ सकते हैं। उसे भी हराना होगा, पर वह अत्यंत बलिष्ठ है। कैसे हारेगा? उसको न हरा सके तो राजसूय यज्ञ संपूर्ण नहीं होगा। जरासंध को हराना और मारना कोई आसान काम नहीं है, इसलिए इस विचार को छोड़ ही देना उत्तम है।” पर भीम ने कहा, “मैं और अर्जुन श्रीकृष्ण की सहायता से जरासंध को अवश्य समाप्त कर देंगे।”

श्रीकृष्ण ने भीम से कहा, “भीम, जरासंध की शक्ति का तुम्हें पूरा तोल-माप नहीं है। जरासंध न्यायप्रिय और उदार है। वह शंकर का भक्त है। इसलिए उस पर विजय पाना अत्यंत कठिन काम है। एक ही बात है जो मुझे इस प्रस्ताव की ओर आकर्षित करती है, वह यह कि हजारों राजाओं को जरासंध ने कंद में डाल रखा है और एक दिन

उन सबकी वह बलि देनेवाला है। यदि हम जरासंध का वध कर दें तो यह सारे-कैसे-सारे राजा कारावास से मुक्त हो जायेंगे। उनके प्राण बचेंगे। इसलिए जरासंध को मारना यद्यपि आसान नहीं है, तो भी न्यायदृष्टि से विचारने योग्य प्रस्ताव है। प्रकारांतर में जरासंध का वध पाप के विनाश और न्याय-स्थापना का प्रतीक होगा।”

इतने पर भी युधिष्ठिर सहमत नहीं हुआ। उसका विरोध जारी ही रहा। दूसरी ओर भीम और अर्जुन का आग्रह भी बना ही रहा कि जरासंध निर्बल राजाओं पर अत्याचार कर रहा है, उनके बलिदान को रोकना ही चाहिए। इस दृष्टि से उसको मारना ही धर्म है। श्रीकृष्ण पर भी इस दलील का असर हुआ। पर उन्होंने बताया कि “सेना लेकर समुख युद्ध में जरासंध पर विजय पाना असंभव है। हट भी उसे परास्त नहीं कर सकता। किंतु मेरा अनुमान है कि जरासंध और भीम दोनों का यदि अकेले का हो परस्पर युद्ध हो तो भीम उसको मार सकता है। इस योजना के लिए कुछ चतुराई और छल की भी आवश्यकता होगी।” युधिष्ठिर भी अंत में इस प्रस्ताव में सहमत हो गया।

इस पर श्रीकृष्ण के साथ भीम और अर्जुन अकेले ही मगध की ओर चल दिये, और जरासंध की राजधानी गिरि-ब्रज पहुँचकर तीनों ने अपनी असली वेशभूषा छोड़कर स्नातकों का वेश धारण कर लिया। पर पुष्पमालाग और चंदन इत्यादि सुगंधित पदार्थ भी उन्होंने धारण कर लिये, जो स्नातकों के लिए वज्य हैं। इसी वेश में राजधानी में पहुँचकर जरासंध के महल में समुख द्वार से प्रवेश न करके पीछे की दीवार फाँदकर वे महल में घुस गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने जरासंध को सदेश भेजा कि तीन स्नातक राजा से

मिलने आये हैं। चूँकि जरासंध अपनी पूजा-पाठ में व्यस्त था, उसने मध्य रात्रि में मिलने का इन तीनों को समय दिया।

मध्य रात्रि में जब समागम हुआ तो जरासंध को इन तीनों पर संदेह हुआ। उसने इनसे कहा, “सज्जनो, तुम्हारा वेश तो स्नातक का है, पर तुमने पुष्पमालायें भी पहन रखी हैं, सुगंधित पदार्थों का भी शरीर पर लेप है, यह सब स्नातको के लिए वर्ज्य है। सूरत से भी तुम लोग क्षत्रिय मालूम होते हो। मुख्य द्वार से न आकर तुमने पीछे की दीवार फँदकर प्रासाद में प्रवेश किया है। मैंने जो भोजन तुम्हारे लिए भेजा था, उसे भी तुमने अस्वीकार कर दिया। सो, तुम कौन हो? क्यों आये हो यह सब स्पष्ट मुझसे बताओ। हर हालत में मैं तुम्हारा स्वागत और सम्मान करता हूँ, क्योंकि तुम मेरे अतिथि हो। पर तुम मित्र नहीं मालूम होते।”

श्रीकृष्ण ने कहा, “जरासंध, तुमने सत्य कहा है। हम तुम्हारे शत्रु हैं और तुमसे युद्ध करने आये हैं। तुम्हारा भोजन हमने नहीं खाया, क्योंकि हम तुम्हारे मित्र नहीं हैं। शत्रु का भोजन सर्वथा वर्ज्य है।” जरासंध ने कहा, “भाइयो, मैं तो तुम्हें जानता भी नहीं, सो तुम मेरे शत्रु कैसे बने? मैंने पहिले तुम्हें कभी देखा हो, ऐसा भी मुझे स्मरण नहीं है। यदि तुम मेरे शत्रु हो, तो कम-से-कम अपना परिचय तो दो और यह बताओ कि तुम मेरे शत्रु कैसे बने।”

इस पर श्रीकृष्ण ने कहा, “हमारी शत्रुता इसलिए है कि तुमने सँकड़ो राजाओं को बिना किसी अपराध के अन्याय से कारागार में डाल रखा है, और अब उन सबकी बलि चढ़ाना चाहते हो। यह निर्दयता और पाप है। असहाय की रक्षा करना और निर्दयी का दमन करना हर धार्मिक पुरुष का धर्म है। हम कौन हैं यह तुमसे छिपाना नहीं चाहते। यह तो पांडव अर्जुन है। यह भीम, युधिष्ठिर का छोटा भाई है।

मैं तुम्हारा पुराना परिचित कृष्ण हूँ। हममें से किसी भी एक को चुनकर उस अकेले से युद्ध कर लो, यह तुमको हमारी चुनौती है।”

जरासंध इस पर खूब हँसा। श्रीकृष्ण की तरफ धिक्कार की नजर डालकर कहने लगा, “तुम तो अद्वारह बार मेरे सामने से युद्ध में भागकर अंत में द्वारिका में जाकर छिप गये। तुमसे मैं क्या लड़ूँ? तुम कायर हो। मुझे आश्चर्य है कि रण में तुम मेरे सामने न ठहर सके और अब मेरे घर में ही आकर मुझे चुनौती दे रहे हो। मैं कंस नहीं हूँ कि जिसको तुमने धोखे से मार डाला। मैं तुमसे नहीं लड़ूँगा, क्योंकि यह मेरी शान के खिलाफ है। अर्जुन बच्चा है। उससे भी क्या लड़ूँ? हाँ, भीम से मैं लड़ लूँगा।”

जरासंध ने जब लड़ने की तैयारी की तो भाँति-भाँति के अपशकुन होने लगे। इसलिए लड़ने के पहिले जरासंध ने अपने पुत्र सहदेव को राजसिंहासन पर बैठा दिया, और फिर उसने भीम से लड़ना शुरू किया। भीम ने खूब जोर लगाया और पीछे से श्रीकृष्ण भी उसको उत्साहित करते रहे—“भीम, तुम वायुपुत्र हो, अपना बल याद करो।” इस पर भीम ने वायु का स्मरण किया और उसमें नये बल का संचार हुआ। उस नये बल के साथ वह हृदय से लड़ने लगा।

उसने जरासंध को सिर पर उठाकर उसकी दोनों टांगें पकड़कर चीर डालीं। जरासंध को यह वरदान था कि उसके दोनों अर्धांग यदि आपस में स्पर्श करें, तो वे आप जुड़ जायेंगे। इसलिए यद्यपि भीम ने जरासंध के शरीर को चीर डाला, तो भी आपस में स्पर्श करते ही यह दोनों अंग फिर वैसे के वैसे ही जुड़ गये और जरासंध फिर ज्यों का त्यों जीवित हो गया। युद्ध फिर होने लगा और भीम थकने लगा।

इस पर कृष्ण ने सैन से भीम को समझाया। एक केली का पत्ता हाथ में लेकर उसको चीरकर श्रीकृष्ण ने दोनों टुकड़ों को अलग-अलग कोनों में फेंक दिया। भीम इस संकेत को समझ गया और उसने जरासंध के शरीर को चीरकर दोनों अंशों को दो दिशाओं में फेंक दिया। इस नयी युक्ति से अब जरासंध समाप्त हो गया। उसकी मृत्यु पर उसके सारे परिवार में हाहाकार मच गया।

पर श्रीकृष्ण ने जरासंध के सब कुटुंबियों को शांत करके कहा, “हमारा और किसी से बैर नहीं है। हम तो अन्याय मेटने आये हैं। तुम कोई भी हमसे भयभीत मत हो। निर्भय रहो।”

फिर जरासंध के रथ में बैठकर वे गिरिवृज की पहाड़ी पर पहुँचे जहाँ सँकड़ो राजाओं को जरासंध ने कोठरियों में बंद कर रखा था। उन सबको श्रीकृष्ण ने मुक्ति दी। इस पर राजाओं ने श्रीकृष्ण की जयजयकार मनाकर कहा, “श्रीकृष्ण, हम आपकी क्या सेवा करें? क्या बदला चुकायें?” श्रीकृष्ण ने कहा, “हम किसी प्रकार का बदला नहीं चाहते। राजा युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ कर रहा है, आप

सब वहाँ पर हमारे मित्र होकर पधारे, हमारा आतिथ्य सत्कार ग्रहण करें, यही हम चाहते हैं।”

फिर श्रीकृष्ण जरासंध के पुत्र सहदेव के पास गये और कहा, “पुत्र, तुम भयभीत मत हो। तुम राजा हो, अपने पिता के शौर्य का अनुकरण करो, पर धर्म के साथ राज्य करो। अन्याय और अधर्म से सदा दूर रहो।” सहदेव ने भी अत्यंत अनुग्रहीत होकर श्रीकृष्ण से कहा, “मैं आपका श्रेणी हूँ और अवश्य राजसूय यज्ञ में आऊँगा, और सदा धर्म के मार्ग का अनुगमन करूँगा।”

जरासंध के साथ के इस युद्ध का विवरण अद्भुत और अनुपम है। इस वध में चतुराई है, कपट है, व्यवहार है, उदारता है, निर्दय के लिए दण्ड है और निर्बल के लिए दया है। पाप का नाश और न्याय की स्थापना है। राजाओं को मुक्त करके उनसे कोई बदला नहीं माँगा। जरासंध का वध किया, पर उसके पुत्र सहदेव पर ममता दिखायी। उसको राज-गद्दी पर आरुढ़ किया, यह एक अद्वितीय व्यवहार-नीति और कुशलता का प्रदर्शन है। यह सब कृष्ण की महानता का द्योतक है।

“मैं पृथ्वी को रक्त से गीली कर दूँगा”— काम्यक-वन में कृष्ण-प्रतिज्ञा

जरासंध की मृत्यु के बाद राजसूय-यज्ञ के आयोजन में अब कोई बाधा नहीं रह गयी। इसलिए राजसूय यज्ञ बड़ी धूमधाम से संपन्न हुआ। पर आरंभ में ही पहला प्रश्न यह उत्पन्न हुआ कि अतिथियों में सर्वश्रेष्ठ किसको माना जाये। जो सर्वश्रेष्ठ हो उसकी सबसे प्रथम पूजा की जाये, ऐसा विधान था। कई नाम सामने आये, पर भीष्म पितामह की स्पष्ट राय थी कि सर्वश्रेष्ठ अतिथि केवल श्रीकृष्ण हैं। इसलिए सर्वप्रथम पूजा के लिए कृष्ण का नाम ही उन्होंने प्रस्तावित किया। भीष्म पितामह ने कहा, “इस विशाल सभा में बड़े-बड़े कुलोत्पन्न राजागणों के बीच केवल श्रीकृष्ण ही सूर्य की भाँति प्रकाशमान हो रहे हैं। अन्य भूपाति तो रश्मि-मात्र हैं। श्रीकृष्ण इनके बीच ऐसे दीपायमान हैं, जैसे किरणों के बीच सूर्य। कृष्ण बिना यह सभा प्रकाशहीन है, इसलिए सर्वप्रथम पूजा के अधिकारी एकमात्र कृष्ण ही हैं।” इस प्रस्ताव को स्वीकार करके पांडवों ने श्रीकृष्ण की सर्वप्रथम पूजा की। पर कुछ राजाओं को यह कार्य पसंद नहीं आया। विशेषकर शिशुपाल को यह बहुत अखरा। उसने उठकर इस तरह के कटु वचन श्रीकृष्ण के सबंध में कहे कि जिन्हें सुनकर पांडवों को क्रोध आ गया। पर भीष्म पितामह ने सबको रोक रखा और कहा, “श्रीकृष्ण शिशुपाल से स्वयं निपट लगे, क्योंकि शिशुपाल की मृत्यु निकट आ गयी है।” शिशुपाल ने पितामह को भी गालियाँ सुना डालीं। श्रीकृष्ण को तो वह अपमानित करता ही रहा।

श्रीकृष्ण ने कहा, “मैंने शिशुपाल की माता को वचन दे रखा है कि मैं एक सौ गालियों तक बरदाश्त कर लूँगा।” अतः जब शिशुपाल एक सौ की सीमा का उल्लंघन कर गया तब श्रीकृष्ण ने चक्र से उसका सिर काट डाला। इस अशुभ

घटना का सभी को सताप हुआ। युधिष्ठिर सतप्त था कि राजसूय यज्ञ में यह क्या अपशकुन हुआ।

व्यासजी वहाँ आये थे। उनसे युधिष्ठिर ने पूछा, “महामुनि, अशुभ शकुन देखने में आते हैं, आपको क्या भविष्य दीख रहा है?” व्यासजी ने कहा, “पुत्र, दुर्योधन का पाप, भीम और अर्जुन का पराक्रम, द्रौपदी की क्रोधाग्नि—यह ससार का नाश कर डालेंगे। इसका सताप बेकार है, क्योंकि जो ईश्वर ने विधेय कर दिया, वह होकर ही पूरा होगा। ससार का नाश होकर ही रहेगा।”

इसके बाद दुर्योधन का युधिष्ठिर को द्यूत-क्रीडा का आह्वान, युधिष्ठिर की जूय में हार, द्रौपदी का अपमान और अंत में पांडवों का वनवास यह सब सर्वविदित कथाएँ हैं। पांडव इद्रप्रस्थ छोड़कर काम्यक-वन को गमन कर गये। कुछ काल तक वहाँ निवास किया। श्रीकृष्ण जो राजसूय यज्ञ में युधिष्ठिर से विदा मागकर द्वारिका चले गये थे, उन्होंने पांडवों की यह सारी विपत्त-कथा सुनी, तो वे उनसे मिलने के लिए काम्यक-वन में पहुँचे।

उनके साथ वृष्णि-वंश के अनेक योद्धा भी आये। पांडवों की यह दुर्दशा देखकर सभी यादवों को अत्यंत क्रोध आया। श्रीकृष्ण का सताप सबसे अधिक था। उनकी क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठी।

श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा, “युधिष्ठिर, मैं द्वारिका में नहीं था। मुझे साहव और सौम से युद्ध करना था, इसलिए द्वारिका से चला गया था। यही कारण है कि इन सब बातों का पता मुझे देर से लगा। यदि मैं उस मौके पर द्वारिका में होता तो इस सारी घटना का वृत्त सुनकर इद्रप्रस्थ पहुँच जाता और तुम्हें कभी जूआ नहीं खेलने देता। मैं अपनी

सैन्य लेकर आया हूँ, इसी क्षण हस्तिनापुर पर चढ़ाई करके कौरवों को समाप्त करना चाहिये। सारा भारतवर्ष तुम्हारे पक्ष में है, इसलिए जंगल का वास छोड़ो और युद्ध करो।”

युधिष्ठिर ने कृष्ण को शांत करके कहा, “कृष्ण, मैं अपनी प्रतिज्ञा से नहीं हट सकता। मैं पाप का फल भोग रहा हूँ। अब प्रतिज्ञा तोड़कर मैं दुबारा अधर्म नहीं करना चाहता। मुझे अब तो अपने किये को भुगतना ही होगा।” पर कृष्ण का क्रोध शांत नहीं हुआ। उसने कहा, “युधिष्ठिर, तुम मेरे हो और मैं तुम्हारा हूँ। जो तुम्हारे शत्रु है, वे मेरे शत्रु हैं। तुम्हारे मित्र मेरे मित्र हैं। मैं शपथ खाकर कहता हूँ कि जब तक मैं तुम्हारे शत्रुओं को समाप्त नहीं कर देता, मैं विश्राम नहीं लूँगा। मैं पृथ्वी को रक्त से गीली कर दूँगा। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि यह मैं करके ही छोड़ूँगा।”

द्रौपदी की आँखें आँसुओं से भरी पड़ी थीं। उसने कहा, “कृष्ण, मैं द्रुपद की लड़की, पांडवों की पत्नी, मेरा यह अपमान, मेरी यह दुर्दशा?” कृष्ण ने द्रौपदी के आँसुओं को पोछा और कहा, “द्रौपदी, जरा और धीरज रखो, तुम जैसे रोती हो वैसे ही कौरवों की पत्नियाँ रोयेगीं। चाहे आकाश के टुकड़े-टुकड़े हो जायें, हिमालय पिघलकर गिर जाये, पृथ्वी के सहस्र टुकड़े हो जायें, पर कृष्ण की प्रतिज्ञा को कोई तोड़ सकता है? बहिन, रोओ मत। कौरवों का नाश करके छोड़ूँगा। मेरी प्रतिज्ञा को कोई मेट नहीं सकता।” इस तरह सबको सांत्वना देकर कृष्ण पांडवों से विदा माँग द्वारिका चले गये।

यह ध्यान रहे कि कृष्ण ने पांडवों को यह अधिकार दे रखा था कि जब चाहे तब वे कृष्ण को द्वारिका से बुला लें।

युधिष्ठिर युद्ध का नहीं, न्याय का पक्षपाती

महाभारत-युद्ध के आरंभ में जब कौरव और पांडव दोनों अपने-अपने पक्ष को प्रबल करने के लिए चारों दिशाओं के राजाओं को आमंत्रण भेज रहे थे, तब दुर्योधन और अर्जुन दोनों सहायता के लिए श्रीकृष्ण के पास द्वारिका पहुंचे।

दुर्योधन तो पहिले पहुंचा और अर्जुन बाद में। श्रीकृष्ण सोचे हुए थे। पर दुर्योधन तो अपने अभिमान के कारण श्रीकृष्ण के पक्ष के सिरहाने बंध गया, और अर्जुन विनम्रता से पक्ष के पैताने बंधा। जब श्रीकृष्ण निद्रा से उठे, तो उन्होंने अर्जुन को पहिले देखा, फिर मुड़े तो दुर्योधन को भी अपने सिरहाने बंधे पाया।

दोनों ने अपने आने का निमित्त बताया और श्रीकृष्ण से प्रार्थना की कि वे उनके पक्ष में मिलकर युद्ध में सम्मिलित हों। दुर्योधन ने कहा, “मैं पहिले आया, इसलिए मेरा अधिकार प्रबल है।” श्रीकृष्ण ने कहा, “दुर्योधन, तुम पहिले आये यह सही है, पर मैंने पहिले अर्जुन को देखा यह भी सही है, इसलिए मैं दोनों का सहाय करूँगा। लेकिन एक तरफ तो मैं अकेला, निःशस्त्र, बिना सैन्य के रहूँगा, और दूसरी ओर यादवों की एक प्रबल सेना रहेगी—इन दोनों में से तुम्हें जो स्वीकृत हो उसे चुन लो, पर चूंकि अर्जुन तुमसे छोटा है इसलिए प्रथम चुनाव का अधिकार अर्जुन को होना चाहिए।” दोनों को यह प्रस्ताव मान्य था। श्रीकृष्ण ने यह भी कहा कि यादव-सेना में इतने बड़े-बड़े योद्धा हैं, जो बल और पराक्रम में मेरे ही समान हैं, उन सबकी सख्ती एक अक्षौहिणी सेना की है। यह सब एक पलड़े में है और दूसरे में मैं निःशस्त्र, और इस शर्त पर कि मैं लड़ूँगा नहीं, यद्यपि लड़ सकता हूँ। यह दो विकल्प हैं। प्रथम प्रसङ्गों

अर्जुन की हैं। अब चुनाव कर लो।”

अर्जुन ने कहा, “श्रीकृष्ण, मुझे तुम्हारी सैन्य नहीं चाहिए। तुम लड़ो या न लड़ो, यह भी मेरे लिए नगण्य है। मुझे तो तुम्हारा आशीर्वाद ही चाहिए। इसलिए मैं तुम्हें चुनता हूँ। दुर्योधन एक अक्षौहिणी सेना पाकर अत्यंत प्रसन्न हुआ, और उसने कृष्ण को छोड़कर यादव सेना को चुना।

बलरामजी के पास जाकर उसने सारी कथा सुनायी। तब बलरामजी ने कहा, “दुर्योधन, तुम मुझे अत्यंत प्रिय हो, पर श्रीकृष्ण को खो बंधे यह तुम्हारा दुर्भाग्य है, अब मैं तो निष्पक्ष रहूँगा। किसी की ओर से नहीं लड़ूँगा। मैं तुम्हारे पक्ष में आऊँगा, यह आशा अब छोड़ दो। मैं किसी हालत में भी कृष्ण के विरुद्ध खड़ा नहीं हो सकता।” इस तरह निःशस्त्र न लड़ने की प्रतिज्ञा के साथ कृष्ण पांडवों के पक्ष में गया और एक अक्षौहिणी यादव-सैन्य कौरवों के साथ गयी।

चूंकि कृष्ण को लड़ना नहीं था, इसलिए वह अर्जुन का सारथी बना, और युद्ध में अर्जुन को बराबर आशा, उत्साह और प्रेरणा देता रहा।

पांडव बारह साल वनवास में रहे और उसके बाद दुर्योधन के साथ किये गये कौल-करार के अनुसार एक साल अज्ञातवास में रहे। साल-भर का यह अज्ञातवास उन्होंने मत्स्य की राजधानी विराटनगर में व्यतीत करने का निश्चय किया। इस निर्णय के अनुसार पाँचों पांडव भाई और द्रौपदी अपना वेश और नाम दोनों बदलकर विराट-नरेश की सेवा में एक साल व्यतीत करने के लिए विराटनगर में निवास करने लगे। उस अज्ञातवास की सारी कथा यहाँ अप्रसंगिक है।

भीम ने कीचक का वध किया। इसकी खबर दुर्योधन के पास भी पहुँची, पर भीम ने ही कीचक का वध किया है इसका निश्चय वह नहीं कर सका, क्योंकि भीम ने तो अपना नाम और वेश दोनों बदल रखे थे। दुर्योधन ने चारों ओर अपने दूतों को भेज रखा था। उन्होंने यह पता लगाने का भरपूर प्रयास किया कि पांडव कहाँ छिपे हैं, क्योंकि पांडवों के अज्ञातवास का यदि पता लग जाता, तो पांडवों को फिर वनवास भुगतना पड़ता। पर जब दूतों को कोई सफलता नहीं मिली, तो जानकार लोगों ने कहा कि कीचक का वध भीम के सिवाय अन्य कोई कर ही नहीं सकता और इसी अनुमान पर यह निर्णय करना उचित होगा कि पांडव मत्स्य देश के विराट की राजधानी में ही छिपे हैं।

इस अनुमान की परीक्षा के लिए यह योजना बनायी गयी कि विराट-नरेश की गौओं का हरण किया जाये और यदि पांडव वहीं छिपे हैं, तो वे अवश्य ही विराट की सहायता के लिए लड़ने आयेगे और उस युद्ध में पांडव अपने आप प्रकट हो जायेंगे। इस योजना के अनुसार गौओं का हरण हुआ और युद्ध भी हुआ। अर्जुन जो नर्तकी के वेश में विराट-नरेश की पुत्री उत्तरा को नृत्य-कला सिखाता था, उसे भी विराट के पुत्र उत्तर की सहायता के लिए युद्ध में उतरना पड़ा और अन्त में कौरव-सेना को उसने अपने पराक्रम से मार भगाया। इतने में अज्ञातवास भी पूरा हो गया। इसके पश्चात् विराट की पुत्री उत्तरा का अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु के साथ विवाह होना निश्चय हुआ और इस मंगल-प्रसंग पर पांडवों ने अपने सब बंधु-बांधवों को इस उत्सव पर उपस्थित होने का निमंत्रण भेजा। उस उत्सव पर यादव भी आये। बलराम और श्रीकृष्ण भी उपस्थित हुए।

विवाह के आमोद-प्रमोद समाप्त होने पर स्वाभाविक ही था कि अब भविष्य की योजना बनायी जाये कि किस तरह पांडवों के प्रति किये गये अन्याय को मिटाकर पुनः

न्याय की स्थापना हो। उसके लिए विराट-नरेश की राज्य-सभा में सभी हितैषियों की एक मंत्रणा का आरम्भ हुआ। सभी ने अपनी-अपनी राय दी। अंत में श्रीकृष्ण भी सभासदों को संबोधन करने के लिए उपस्थित हुए। सारी सभा शांत होकर कृष्ण के वाक्य सुनने के लिए अत्यंत उत्सुक थी।

कृष्ण ने कहा, “सज्जनों, पांडवों के प्रति दुर्योधन ने जो अन्याय किया है उससे आप अपरिचित नहीं हैं। पांडवों ने किस तरह बारह साल वन में बिताये और एक साल अज्ञात स्थान में भी व्यतीत किया, किस तरह कपट से शकुनि इत्यादि ने युधिष्ठिर को जूरे में हराया और द्रौपदी का अपमान किया, यह सारी कथा आप सबको विदित है। पांडव चाहते तो किसी भी समय युद्ध करके कौरवों को पराजित कर सकते थे। किंतु युधिष्ठिर धर्म के मार्ग से विचलित नहीं होना चाहता था, इसलिए उसने युद्ध का मार्ग ग्रहण नहीं किया। वनवास का और अज्ञातवास का कष्ट भी सहन किया, तो भी अपना धर्म नहीं छोड़ा।

“अब समय आ गया है, जबकि इस सारे अन्याय का लेखा-जोखा हो। इसलिए आप सबसे परामर्श करना आवश्यक है। निर्णय ऐसा हो, जो न्याय का हो और लोक-कल्याणकारी हो, किसी के साथ अन्याय न हो। पांडवों और दुर्योधन दोनों का कल्याण हो, ऐसा मार्ग निकालना चाहिए। धर्म के मार्ग को छोड़ने की अपेक्षा युधिष्ठिर अपना सारा राज्य भी त्यागने को तैयार हो जायेगा।

“कौरवों ने युधिष्ठिर का राज्य दबा रखा है। यह आधा राज्य न्याय से युधिष्ठिर का ही है। उस पर उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। अधर्म से दुर्योधन ने युधिष्ठिर को अपने न्याययुक्त हिस्से से वंचित कर रखा है। पांडव युद्ध में पराजित नहीं हुए। पर कपट द्वारा जूरे में हराये गये हैं। यह अधर्म हुआ है।

“पांडवों के सारे जीवन में धृतराष्ट्र और दुर्योधन ने उनके साथ किस तरह कपट का, क्रूर और निर्दयी व्यवहार किया है, यह सारी कथा आपको विदित है। इस अन्याय को मिटाकर न्याय होना आवश्यक है। युधिष्ठिर युद्ध नहीं चाहता। वह न्याय चाहता है। दुर्योधन क्या चाहता है, इसका हमें पता नहीं है। पर मेरा प्रस्ताव है कि एक वरिष्ठ पुरोहित को हम दूत बनाकर कौरवों के पास भेजे, वह दुर्योधन से नम्रतापूर्वक यह निवेदन करे कि युधिष्ठिर युद्ध नहीं, न्याय चाहता है। इसलिए उसका आधा राज्य उसको मिलना चाहिए।”

बलरामजी ने इसका समर्थन तो किया, पर उनका पक्ष दुर्योधन की तरफ था, यह साफ भलकता था। उन्होंने कहा, “पांडव, कौरवों का सारा राज्य नहीं चाहते। वे चाहते हैं, केवल अपना हिस्सा। पुरोहित दूत बनकर जाये, पर सब बड़े-बूढ़ों को नमस्कार करे, कोई कठोर शब्द किसी हालत में भी इस्तेमाल न करे। युधिष्ठिर कुछ भी कहे, पर दूत में हार तो गया ही है। इसलिए इस घटना का उल्लेख करते समय कौरवों के अन्याय का बार-बार दोहराना अच्छा नहीं होगा। नम्रतापूर्वक ही युधिष्ठिर को अपना हिस्सा माँगना चाहिए।”

बलरामजी का यह ठाख्यान कुछ पक्षपात का था, इसलिए सभापदों को पसंद नहीं आया। सबको लगा कि

बलरामजी को दुर्योधन ने कुछ उल्टा-पुल्टा समझाया है और उसका प्रभाव भी उन पर पड़ा है।

युधिष्ठिर को भी बलरामजी का यह सारा वक्तव्य झलचिकर लगा, तो भी वह चुप रहा। पर सात्यकि को यह बरदाश्त नहीं हुआ। वह बलरामजी के वक्तव्य को बीच में ही काटकर उन्हें खरी-खोटी सुना गया। उसने कहा, “बलरामजी के शब्दों पर मुझे क्रोध नहीं है। क्रोध उन सभासदों पर है, जो चुपचाप बलरामजी का वक्तव्य सुनते रहे। दूत भेजना हो, तो भेजो, पर यह समय की बर्बादी है। दूत भेजना हो तो पुरोहित को नहीं, मुझे भेजो। मैं दुर्योधन की चोटी पकड़कर उसे युधिष्ठिर के चरणों में डाल दूँगा।”

इस क्रोधपूर्ण वक्तव्य का सभी सभासदों ने समर्थन किया। द्रुपद ने भी इसका समर्थन करते हुए कहा, “दुर्योधन पापी है, भीष्म और द्रोण अपनी बुद्धि खो बैठे हैं जो दुर्योधन के पक्ष में हैं। इतना होने पर भी पुरोहित को दूत बनाकर भेजने का मेरा विरोध नहीं है।”

अंत में कृष्ण ने कहा, “सात्यकि और द्रुपद ने खरी-खरी बातें कही हैं, पर तो भी सर्व-सम्मति यही है कि एक बार दूत भेजकर प्रयत्न किया जाये ताकि शांति से सारा भ्रमेला निपट जाये। यदि कुछ न हुआ तो फिर युद्ध तो है ही।” इस तरह दूत भेजने का कृष्ण का प्रस्ताव सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुआ।

“पर मेरा पुत्र मेरी बात नहीं मानता”—धृतराष्ट्र

इस प्रस्ताव के अनुसार जोशीजी पांडवों के दूत बनकर हस्तिनापुर पहुँच गये। ब्राह्मण देवता ने धृतराष्ट्र की सभा में उपस्थित होकर युक्तिपूर्ण और सारगर्भित शब्दों में धृतराष्ट्र और उनकी राजसभा के सभासदों को पांडवों का संदेश सुनाया। भीष्म पितामह और विदुर दोनों ही पांडवों से प्रेम करते थे, इसलिए उन्होंने दूत बनकर आये पुरोहितजी का अच्छी तरह स्वागत-सत्कार किया। वे सबके-सब पुरोहितजी का वक्तव्य सुनने को उत्सुक थे। पुरोहितजी ने भी गर्म और नर्म शब्दों में अपना व्याख्यान कौरव-सभा में आरंभ किया। उन्होंने कहा, “सज्जनवृंद, मुझे प्रसन्नता है कि इस विशाल सभा में ऐसे लोग उपस्थित हैं, जिनकी धर्म में आस्था है और जिन्हें धर्म का पूरा ज्ञान है। इस सभा में ऐसे महानुभाव भी हैं, जो न्याय और अन्याय का भेद समझते हैं और जिन्हें ईश्वर ने विवेक दिया है। ऐसे लोगों को मेरा वक्तव्य समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

“संसार जानता है कि धृतराष्ट्र और पांडु दोनों एक ही पिता की संतान हैं, इसलिए यह राज्य भी कौरवों और पांडवों की ही सम्मिलित सम्पत्ति है। तो फिर क्या कारण है कि पांडवों का आधा राज्य पांडवों के अधिकार में नहीं है। क्यों सारा-का-सारा राज्य धृतराष्ट्र के लड़कों ने ही अपने अधिकार में कर रखा है। पांडवों के साथ उनके सारे जीवन में अधर्म का व्यवहार हुआ है। आरंभ में तो उन्हें वध करने का भी प्रयास किया गया। उससे वे बच निकले। जब उनका वध विफल गया, तो फिर कपट-द्यूत में उनको हराकर उनका राज छीन लिया गया। द्रौपदी का अपमान किया गया। पर पांडव इन सब कटु कथाओं को अब भूल जाने को तैयार हैं। उन्होंने वनवास और अज्ञातवास दोनों

का ही कष्ट भोगा। पर अब पांडव इस काल को भी समाप्त कर चुके। इसलिए अब वे अपने हिस्से का राज्य चाहते हैं। उनकी यह माँग न्याययुक्त है। यदि दुर्योधन इसमें सम्मत नहीं है और युद्ध ही चाहता है तो उसे वह भी मिल जायेगा। किंतु इसका परिणाम भयंकर है। पांडव निर्बल नहीं हैं। कृष्ण उनके साथ हैं। धर्म उनके साथ है। बड़े-बड़े योद्धा भी उनके साथ हैं। इसलिए कौरवों के हित में यह है कि वे युधिष्ठिर की न्याययुक्त माँग को स्वीकार करें। इसलिए आप सब लोग दुर्योधन को समझाये कि वह इस पाप-कर्म से उपरत हो अन्यथा उसका नाश अवश्यभावी है।

या तो पांडवों का राज्य पांडवों को सौंपा जाये या फिर पांडवों के क्रोध की अग्नि का सामना करने के लिए तैयार हो जाये। इस अग्नि में दुर्योधन और उसके साथी सभी भस्मीभूत हो जायेंगे।

भीष्म यह सब सुनते रहे। उन्होंने पुरोहित की बातों का अनुमोदन करते हुए दुर्योधन और उसके साथियों से कहा कि, “युधिष्ठिर धर्मात्मा है, उसके साथ अन्याय हुआ है। पुरोहित जो कहता है वह सर्वथा सत्य है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि युधिष्ठिर शांति चाहता है। युधिष्ठिर की माँग सर्वथा न्यायसंगत है।” पर कर्ण पितामह का वक्तव्य समाप्त होने के पहिले ही क्रुद्ध होकर उठ खड़ा हुआ और भीष्मजी को खरी-खोटी सुनाने लगा। पितामह भी बिगड़ पड़े। अंत में धृतराष्ट्र ने बीच-बिचाव करके पुरोहित को जिस रास्ते वह आया था उसी रास्ते उसे उल्टे पाँव उपप्लव्य विदा कर दिया। विदा होते समय धृतराष्ट्र ने ब्राह्मण देवता से यह भी कहलाया कि “मैं संजय के हाथ युधिष्ठिर को सब बातों का उत्तर भेजूँगा। मैंने अभी तक अपने सभासदों से

परामर्श भी नहीं किया है। इस सलाह-मशविरे के बाद ही उत्तर जायेगा।”

कुछ दिनों के बाद संजय धृतराष्ट्र का संदेश लेकर युधिष्ठिर के पास उपप्लव्य पहुँचा। संदेश में कोई संतोषजनक उत्तर तो था ही नहीं। केवल वेदांत का बघार था, जो सबको पाखंडवाद लगा। संजय ने धृतराष्ट्र की ओर से कहा, “युधिष्ठिर, तुम्हें युद्ध नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह पाप-कर्म है। तुम्हें राज्य न भी भिंसे तो भी संतोष ही रखो। अहिंसा का त्याग किसी भी हालत में विहित नहीं है। लोगों के भले के लिए सर्वकाल में अपना स्वार्थ छोड़ना ही मुख्य धर्म है। मुझे संपूर्ण आशा है कि मेरे उपदेश को तुम, भीम, अर्जुन और कृष्ण सभी स्वीकार करोगे।”

युधिष्ठिर शांतप्रकृति का था, पर उसे भी इन कपट और पाखंड के शब्दों को सुनकर क्रोध आ गया। उसने कहा, “संजय, धृतराष्ट्र लोभ के वश होकर मुझे यह उपदेश भेज रहा है। बार-बार वह अपने पुत्रों की बात को ही दोहराता रहता है। मैं तो युद्ध नहीं चाहता। मैं तो केवल न्याय चाहता हूँ। पर धृतराष्ट्र तो आरंभ से ही धर्म को भुला बैठा है। जब द्यूत-क्रीड़ा हो रही थी, वह यह जानते हुए भी कि यह पाप हो रहा है उसने दुर्योधन को निवारण नहीं किया। उसने कोई चेष्टा नहीं की। वह तो उल्टा द्यूत के समय बार-बार एक ही प्रश्न पूछता रहा। ‘किसकी जीत हुई?’ उसको तो दुर्योधन की जीत में ही रस था। वह पाप-पुण्य के भेद को नितांत भूल गया।

“द्रौपदी का अपमान हुआ उसे भी वह पों गया। इस पाप-कर्म में उसका पूरा अनुमोदन रहा। दुर्योधन तो कम-से-कम साफ-साफ यह तो कहता है कि ‘मैं पांडवों को कुछ भी हिस्सा नहीं दूँगा।’ पर मेरा यह चचा तो पूरा पाखंडी है। उसे देना-लेना तो कुछ है ही नहीं। पर अपने किये अन्याय का भी उसे कोई दर्द नहीं है। वह न्याय

चाहता ही नहीं। उल्टा मुझे ही वेदांत सिखाता है। यह पूरा पाखंड है। इसलिए मेरे चचा से कहो कि ‘युधिष्ठिर शांति चाहता है। पांडव धर्म के रास्ते को कभी नहीं छोड़ेंगे। पर हम न्याय चाहते हैं। मेरा राज्य और इंद्रप्रस्थ मुझे लौटा दो। यह मेरी न्यायसंगत माँग है। मेरा यह संदेश धृतराष्ट्र के पास पहुँचा दो। यदि मेरा हिस्सा मिल जायेगा तो कोई युद्ध नहीं होगा।’”

संजय ने बीच में ही बात काटकर कहा, “युधिष्ठिर, मेरा सारा संदेश तो तुमने सुना ही नहीं। धृतराष्ट्र ने यह भी कहलया है कि जीवन स्वल्प है। इस छोटे-से जीवन में एक तुच्छ सुख के लिए युद्ध करोगे, अपने स्वजनो को मारोगे? यह पाप क्यों मोल लेते हो? इससे तुम्हारी संसार में घोर निंदा होगी। अपयश होगा। तुम पाप का भार सिर पर रखकर सारा जीवन बेचैनी से व्यतीत करोगे। तुम तृष्णा का त्याग करो, और युद्ध की विस्मृति कर दो। इस नश्वर जीवन में राज्य का लोभ तुम्हारे लिए अशोभनीय है। तेरह साल तुमने वनवास और अज्ञातवास में बिताये। तुमने धीरज रखी। अब भी धीरज रखो, और धीरज से युद्ध के विचार को त्याग दो। तुमको बुढ़ापा भी आयेगा, मृत्यु भी आयेगी इसलिए इन नश्वर सुखों से मुँह मोड़ो।

“तुमने तेरह साल धीरज रखा। उस समय तुमने युद्ध नहीं किया, इसलिए हम तो इसी भरोसे में थे कि तुम सारी बातों को भूलकर अपना धैर्य बनाये रखोगे। अब तुम पुराने घावों को क्यों फिर उघाड़ रहे हो। बुधजन दूसरों को भी लड़ने से रोकते हैं, पर तुमने तो मालूम होता है बुद्धि को तिलांजलि ही दे दी है।

“यह कहा गया है कि समझदार लोग क्रोध के वश में नहीं होते, क्योंकि क्रोध बड़े से बड़ा विष है। इसलिए ज्ञानी लोग क्रोध को पी जाते हैं और शांति पाते हैं। संभव है तुम भीष्म, द्रोण, शल्य और मेरी संतानों का भी वध कर डालो।

पर मुझे बताओ इसमें तुम्हें क्या लाभ होगा। मैं मान भी लूँ कि विजय तुम्हारी ही होगी तो भी अपने स्वजनो को मारकर तुम सारी जिदगी पचताते ही रहोगे। इस तरह तुम्हारा जीवन दुख में ही कटेगा। इसलिए क्रोध को छोड़ो और फिर वन में चले जाओ और भिक्षा पर निर्वाह करो और शांत रहो या यो यादवों की दया पर जिदा रहो और सुखी रहो।”

संजय यह संदेश सुनाकर चुप होकर बैठ गया। पांडव सुनकर स्तब्ध हो गये। भीम बेचैन होकर खड़ा हो गया। सब भाई आगबबुला हो गये। अर्जुन को लगा कि इसी क्षण युद्ध आरंभ कर दें। युधिष्ठिर ने संजय की तरफ मुँह करके कहा, “संजय, मेरा चचा बुद्धा है। उसे, मुझे बुरा-भला कहने का अधिकार तो है, पर वह इस अधिकार का दुरुपयोग कर रहा है। जो भी हो इसका उत्तर तो कृष्ण ही देंगे। मैं लड़ूँ या न लड़ूँ इसका सारा अधिकार श्रीकृष्ण को है। उनकी अनुमति के बिना मैं कुछ भी नहीं कर सकता। जब तक श्रीकृष्ण मेरी सहायता पर हैं मुझे किसी बात की चिंता नहीं है। कृष्ण, तुम बताओ, अब तुम क्या कहते हो?”

कृष्ण युधिष्ठिर के वाक्य से विह्वल हो गये और धर्म-संयुक्त वचनो से संजय को कहा, “संजय, पांडवों की भलाई मेरा प्रथम धर्म है। इसको सामने रखकर ही धृतराष्ट्र के लड़कों की भी दीर्घ आयु चाहता हूँ। पर धृतराष्ट्र की बुद्धि पर मुझे तरस आता है। वह जानता है कि धर्म किस ओर है और पाप कहाँ है। तो भी वह युधिष्ठिर को दोषी बताने की धृष्टता करता है। तुम भी जानते हो युधिष्ठिर धर्म से कभी विचलित नहीं होता। युधिष्ठिर ने तेरह साल धीरज रखा, क्योंकि वह धर्म छोड़ना नहीं चाहता था। कौरवों का उसने कभी का नाश कर दिया होता। पर धर्म ने उसको रोका। फिर भी राजा धृतराष्ट्र युधिष्ठिर पर ही दोषारोपण करता है। मालूम होता है उसकी बुद्धि का सर्वथा नाश हो

चुका है। तुम्हारे राजा को वेदात बघारने का कोई अधिकार नहीं है। वह दभी है और अहकारी है। द्रौपदी का अपमान हुआ, वह एक ही पाप दुर्योधन को मारने के लिए काफी था। उस अपमान को हममें से कोई भी नहीं भूल है। भीम ने वन में जाने के पहिले जो प्रतिज्ञा ली थी उसे भीम भूल नहीं सकता। दुःशासन ने भीम को अपमानित करते हुए उसे ‘गाय’ के नाम से संबोधन किया था। उसे भी भीम भूला नहीं है। वह दुःशासन के रक्त का प्यासा है। दुर्योधन को कहो, भीम नौद में भी दुर्योधन की जाँघ को याद रखता है। उसे वह तोडकर ही रहेगा। यह सब तुम्हें पता है। स्मरण भी है। तो भी तुम्हारे महाराजा कैसे इन बातों को भूल गये। अगर भूल गये हो, तो मैं एक-एक करके उनको सारी कथा फिर से सुना सकता हूँ। तो भी हम शांति चाहते हैं। महाराजा से कहो कि मैं स्वयं हस्तिनापुर आकर तुम्हारे महाराजा के दुष्ट पुत्रों को फिर से समझाने की कोशिश करूँगा। यदि फिर भी उन्होंने नहीं माना, तो उसकी एकमात्र औषधि तीक्ष्ण बाण ही है। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि दुर्योधन अधर्म छोडकर युधिष्ठिर की न्याययुक्त माँग स्वीकार कर लेगा, तो मैं युद्ध नहीं होने दूँगा।”

संजय ने हस्तिनापुर वापस जाने की तैयारी कर ली। पांडवों से विदा ली। जाते समय संजय ने युधिष्ठिर से कहा, “मैं द्रुत बनकर आया हूँ, इसलिए यह दुःखद संदेश तुमको मैंने दिया वरना मैं तो तुम्हारा ही मित्र हूँ।” युधिष्ठिर ने फिर संजय द्वारा कौरवों को शुभकामना भेजी और इद्रप्रस्थ की माँग भी रखी, पर अर्जुन को युधिष्ठिर की यह नम्रता पसंद नहीं आयी। उसने संजय द्वारा दुर्योधन को कटु संदेश भी भेजा, पर युधिष्ठिर ने अपनी नम्रता नहीं छोड़ी और न्याययुक्त अपनी माँग भी नहीं छोड़ी। अंत में संजय का विदा किया।

संजय उपप्लव्य से लौटकर हस्तिनापुर पहुँचकर सीधा धृतराष्ट्र के महल में पहुँचा। धृतराष्ट्र यह जानने के लिए अत्यंत उत्सुक था कि उपप्लव्य में क्या हुआ। संजय ने संक्षेप में कहा, “युधिष्ठिर ने आपको नमस्कार भेजा है। सबकी कुशल-मंगल पूछी है। पांडव और श्रीकृष्ण सब सकुशल हैं। मुझे वहाँ जाकर अत्यंत सुख मिला। वहाँ का वातावरण सारा निर्मल और शुद्ध है। तुम्हारे यहाँ तो सारी गंदगी भरी पड़ी है। मुझे न तो तुम्हारा व्यवहार रुचता है न तुम्हारा कथन ही। मैंने दूत का कर्म तो किया, पर मुझे उसमें कोई प्रसन्नता नहीं थी। तुम पाप-कर्म करते हो, तो भी तुम अपने मंगल की आशा करते हो यह आश्चर्य है। मैंने तुम्हारा संदेश पहुँचा दिया। युधिष्ठिर का संदेश मैं तुमको कल सुनाऊँगा। मैं थक गया हूँ। इसलिए अब कुछ विश्राम करूँगा।”

यह कह संजय तो अपने घर गया। पर धृतराष्ट्र को भयंकर बेचैनी हो गयी। रात-भर उसको नींद नहीं आयी। तब उसने विदुर को बुला भेजा। राजा ने कहा, “विदुर, मैं अत्यंत बेचैन हूँ। मुझे नींद नहीं आ रही है। मुझे कुछ उपदेश दो तो मुझे शांति मिले।” इस पर विदुर ने राजा को एक वृहद् उपदेश दिया, जो विदुर-नीति के नाम से प्रख्यात है। यह नीति मनन के योग्य है। यहाँ यह प्रस्तुत नहीं है।

दूसरे दिन संजय ने सारी कहानी धृतराष्ट्र और उसकी सभा को सुनायी। सबने इसको चुपचाप सुना। भीष्म ने

दुर्योधन का प्यार से समझाने का प्रयास किया कि वह न्याय-मार्ग का अनुसरण करे, पर कोई सफलता नहीं मिली।

कर्ण तो बिगड़ उठा, पर पितामह ने उसकी ओर ताका भी नहीं। वह तो दुर्योधन को ही समझाते रहे। पर दुर्योधन ने कोई उत्तर नहीं दिया। धृतराष्ट्र बार-बार संजय से सारा ब्योरा पूछता रहा। संजय ने पांडवों की अमोघ शक्ति का वृहत् वर्णन किया। और यह वर्णन करते-करते वह बेहोश होकर गिर पड़ा। धृतराष्ट्र भी उर के मारे घबड़ा उठा। सारा भविष्य उसे महाकाल की अग्नि की ज्वाला से आच्छादित जैसा दीखने लगा। उसने कहा, “संजय क्या कहें, तुम्हारी बात तो सही है पर मेरा पुत्र मेरी बात नहीं मानता।”

इस पर संजय बिगड़ उठा। उसने कहा, “धृतराष्ट्र, वास्तव में तो पापी तुम ही हो। विदुर, भीष्म सबने तुम्हें समझाया, पर तुमने किसी की नहीं मानी। तुम्हारी हद अभिलाषा तो यही थी कि पांडव जूरा में हार जायें और तुम्हारे पुत्र की जीत हो। अब तुम्हारे पुत्रों का नाश होकर ही रहेगा। तुम्हारे पुत्र एक तरह भाग्यशाली हैं कि वे रणक्षेत्र में लड़कर मरेंगे। पर महाराज, तुम तो भाग्यहीन हो, क्योंकि तुम सारे परिवार का नाश सुनोगे और फिर भी जिंदा रहोगे। इसलिए मैं तुम्हारे लिए शोकातुर हूँ।” दुर्योधन ने कुछ हिम्मत बाँधाई। संजय व विदुर सबने फिर दुर्योधन को समझाया पर वह क्रोध में आकर सभा छोड़कर चला ही गया।

प्रश्न स्वजन और परजन का नहीं बल्कि धर्म और अधर्म का

श्रीकृष्ण ने संजय द्वारा धृतराष्ट्र को यह कहला भेजा था कि मैं स्वयं ही हस्तिनापुर आकर फिर एक प्रयास करूँगा। तुम्हें और तुम्हारे पुत्रों को समझाऊँगा जिससे कि युद्ध न हो और कौरव-परिवार सर्वनाश से बच जाये। उसी के अनुसार श्रीकृष्ण हस्तिनापुर जाने की अब तैयारी करने लगे।

हस्तिनापुर जाने के पहिले सबसे परामर्श करना आवश्यक था। इस कार्यक्रम की सूची में सबसे महत्व का परामर्श तो युधिष्ठिर से ही करना था। उस सिलसिले में युधिष्ठिर ने कहा, “कृष्ण, तुम्हारा हस्तिनापुर जाना तो आवश्यक है। धृतराष्ट्र न्याय और अन्याय का विवेक खो बैठा है। मुझे युद्ध पसंद तो नहीं है, पर दुर्भाग्य से मैं क्षत्रिय हूँ। इसलिए लाचारी है। यदि मैं शूद्र होता तो सेवा करके ही पेट भर लेता। यदि वैश्य होता, तो लेवा-बेची करके उदर-पोषण कर सकता था। यदि ब्राह्मण होता, तो भिक्षा माँगकर ही काम चला लेता। पर मैं ठहरा क्षत्रिय। क्षत्रिय तो दे ही सकता है, माँग नहीं सकता। इस हालत में मेरे चचा की लोभ-वृत्ति के कारण मुझे लड़ना ही पड़ेगा।

“जो मेरे स्वजन हैं, मेरे प्रिय हैं उनकी मृत्यु भी मुझे देखनी पड़ेगी। यदि मैं युद्ध न करूँ, तो मेरा अपयश होगा और उपहास भी होगा। इसलिए तुम्हारा शांति के लिए प्रयास स्तुत्य है। मुझे आशा है कि तुम्हें सफलता मिलेगी।”

श्रीकृष्ण ने कहा, “मैं पूरा प्रयत्न करूँगा और यदि सफलता मिली तो लाखों के प्राण बचेंगे।”

युधिष्ठिर ने फिर कहा, “कृष्ण, तुम्हें भेजने में मुझे भय भी लगता है कि कहीं दुष्ट दुर्योधन तुम्हें हानि न पहुँचा दे।”

कृष्ण ने कहा, “मैं मानता हूँ कि दुर्योधन नीच और पापी है, वह कुछ भी कर सकता है, पर तुम विश्वास रखो कि वह मेरा कोई बिगाड़ नहीं कर सकता। यदि वह कोई दुष्टता करेगा, तो तुम युद्ध करोगे उसके पहिले ही मैं उसका और उसके सारे वंश का नाश कर दूँगा। इसलिए तुम मेरी चिंता मत करो। पर मुझे कोई समझौते की आशा ही नहीं है।

“संजय ने तुम्हें धृतराष्ट्र का संदेश सुना ही दिया। उसके बाद तुम्हें कौरवों के प्रति किसी भी तरह की दया नहीं दिखानी चाहिए। तुम क्षत्रिय हो। क्षत्रिय के लिए दो ही मार्ग हैं। या तो विजय या मृत्यु। दोनों का ही क्षत्रिय को स्वागत करना चाहिए। तुम्हें निबलता नहीं दिखानी चाहिए। स्वजनो के मोह में तुम्हें कायर नहीं बनना चाहिए। कौरव पापी हैं, उनका वध ही प्रशस्त है।

“क्षत्रिय का कोई स्वजन नहीं होता। पितामह के प्रति भी तुम्हें अनुराग त्याग देना चाहिए। प्रश्न धर्म और अधर्म का है। स्वजन और पर-जन का नहीं। अधर्म को रोकने के लिए पितामह या द्रोण ने कुछ नहीं किया। द्रौपदी का अपमान हुआ, तब भी वे मौन रहे। इस अधर्म का दंड अब सभी को भुगतना पड़ेगा। धृतराष्ट्र की राजसभा पाप का भंडार है, उसका नाश करना ही धर्म है। हस्तिनापुर में मुझे कोई सफलता नहीं मिलेगी। पर मेरे जाने का उद्देश्य तो यह भी है कि वहाँ के नागरिकों को भी मैं बता दूँ कि उनका राजा कैसा नृशंस है, और युधिष्ठिर धर्म के मार्ग पर है। यह सब बातें वहाँ की जनता को मैं बताऊँगा। मैं जाता हूँ। मेरी अनुपस्थिति में तुम युद्ध की तैयारी में लग जाओ। मुझे सफलता की कतई आशा नहीं है।”

भीम से भी परामर्श हुआ, तब भीम ने कहा, “कृष्ण, तुम्हें सफलता मिले तो मुझे प्रसन्नता होगी। दुर्योधन दुष्ट है और अहंकारी है, पर तो भी शांति हो जाये तो शुभ ही है।”

इस पर कृष्ण जोर से हँस पड़े और कहन लगे, “भीम, तुममें यह नम्रता और शांति की चाह कब से जाग्रत हो गयी? कल तक तो तुम युद्ध की बातें करते थे, आज शांति का ठगखाना दे रहे हो। तेरह साल तक तुम एक रात भी सुख से नहीं सोये। बार-बार तुमने अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण किया। आज बड़े शांतिप्रिय बन गये। तुम क्षत्रिय हो। कौरवों के पाप का स्मरण करो, जब तक तुम इन सबका वध नहीं करोगे तब तक तुम्हें कोई शांति नहीं मिलनेवाली है।” भीम को इस पर क्रोध आ गया। उसने कहा, “कृष्ण, मुझे निर्बल बताकर गालियाँ मत सुनाओ। मैं वही भीम हूँ, जो पहिले था।”

कृष्ण ने कहा, “भीम, तैयार हो जाओ, युद्ध रुकेंगा नहीं।” अर्जुन की बारी आयी तो उसने कहा, “कृष्ण, जो उचित हो सो करो। मुझे कोई चिंता नहीं है। युद्ध हो तो तैयार हूँ, न हो तो अच्छा है।” कृष्ण ने कहा, “अर्जुन, यह याद रखो कि काल सबसे प्रबल है। जो विधि ने निर्धारित कर दिया, उसको मैं भी नहीं रोक सकता। तुम समझते हो कि मैं सब-कुछ कर सकता हूँ, वह मिथ्या आशा है। मेरे पास कोई दैवी शक्ति नहीं है। जो होनहार है वही होकर रहेगा।”

नकुल, सहदेव ने भी अपनी-अपनी राय दी। यह दोनों ही आवेश में थे। सात्यकि तो और भी गर्म था। उसने कहा, “दुर्योधन की मृत्यु ही पाप को मिटा सकती है।”

अंत में द्रौपदी की बारी आयी। वह तो भरी बैठी थी। कृष्ण से भेंट होने पर वह उबल पड़ी। अपनी ब्रेणियों को हाथ में लेकर उसने कहा, “कृष्ण, इनको याद रखो। जबसे

दुष्ट दुःशासन ने मेरे बालों को अपवित्र किया, तबसे मैंने बेगी बाँधना ही बंद कर दिया है। दुःशासन, जिसने मेरी चोटी पकड़ी, उसके हाथ कटने पर ही मुझे शांति मिलेगी। तभी मैं फिर से अपना जुड़ा बाँधूँगी। मैं आग की तरह जल रही हूँ। तुम्हीं एक हो जो मुझे शांति दे सकते हो।” कृष्ण ने कहा, “द्रौपदी, रोओ मत। थोड़े दिनों में तुम्हारे शत्रुओं की बहुरँ रुदन करेंगी।”

इस तरह की मंत्रणा के बाद कृष्ण रथ में बैठकर हस्तिनापुर को विदा हुए। पांडव कृष्ण के रथ को दूर तक पहुँचाने आये। सात्यकि कृष्ण के साथ हस्तिनापुर गया।

धृतराष्ट्र ने जब अपने गुप्तचरों से सुना कि कृष्ण हस्तिनापुर के लिए विदा हो चुके हैं, तब उसने भीष्म और विदुर को परामर्श के लिए बुलाया। संजय को भी आने के लिए कहला भेजा। द्रोण और दुर्योधन तो पोंहले से ही राजा के पास थे।

धृतराष्ट्र ने इस परामर्श के सिलसिले में उनसे कहा कि “महान् कृष्ण हस्तिनापुर आ रहे हैं। वे युद्ध की चर्चा करने आ रहे हैं। कृष्ण एक महापुरुष हैं। इसलिये उनका पूरा सत्कार करना चाहिए और किसी भी तरह उन्हें प्रसन्न करना चाहिए। उनकी शुभ-कामना की हमें अत्यंत आवश्यकता है। इसलिये उनके सत्कार और विश्राम का अच्छा प्रबंध होना चाहिए। यात्रा रास्ते में भी सुखपूर्वक हो इसका भी प्रबंध होना चाहिए।” फिर दुर्योधन से कहा, “दुर्योधन, यदि हम कृष्ण को प्रसन्न कर सकें तो तुम्हारा लाभ होगा। भीष्म, तुम्हारी क्या राय है?” भीष्म ने इस बात का अनुमोदन किया। दुर्योधन ने कहा, “मैंने यथोचित सारा प्रबंध कर दिया है।”

विदुर से धृतराष्ट्र ने कहा, “कृष्ण आज रात को कशस्थल पहुँचकर कल हस्तिनापुर पहुँच जायेंगे। विदुर, सारा प्रबंध तुम अपने हाथ में लेकर इस महान् पुरुष के

सत्कार का संपूर्ण प्रबंध करो ।” कुछ रुककर विदुर से उन्होंने फिर कहा, “कृष्ण को बहुमूल्य भेंट और मरिा-मुक्ताओ का उपहार भी देना चाहिए । एक अच्छा रथ और अच्छे घोड़े और अन्य हजारों चीजों का पारितोषिक कृष्ण को देना चाहिए । मैं उन्हें प्रसन्न करने के लिए अत्यंत उत्सुक हूँ । तुम सब इस संबंध में क्या कहते हो ?”

विदुर मुस्कराकर बोले, “राजन, इस भूमि-मंडल में कृष्ण-जैसा महान् पुरुष न तो अब तक जन्मा है, न ही आगे जन्मेगा । उस कृष्ण के संबंध में तुम बच्चों की-सी बातें करते हो । तुम कृष्ण को नहीं जानते । तुम उन्हें रिश्वत देकर खरीदना चाहते हो, इस पर मुझे हँसी आती है । अचानक तुम इतने उदार कैसे बन गये । पांडवों को तो तुम पाँच गाँव भी देने को तैयार नहीं हो और कृष्ण को मरिा-मुक्ताओ से विजय करना चाहते हो ? यदि सचमुच तुम कृष्ण को प्रसन्न ही करना चाहते हो, तो एक ही रास्ता है । वह यह है कि उनकी राय को स्वीकार करो । सबसे बड़ा सम्मान कृष्ण का यही होगा कि तुम उनकी बात मान लो । कृष्ण तुम्हारे हित के लिए ही आ रहे हैं । वह शांति चाहते हैं । तुम्हारा भी हित उसी में है । पर कृष्ण को हीरे-पन्नों से खरीदना चाहते हो इससे मुझे हँसी आती है । अचानक तुम इतने उदार कैसे बन गये ?”

दुर्योधन भी यह सब सुन रहा था । उसने कहा, “चाचा विदुर सही कहते हैं । कृष्ण का पांडवों से अभिन्न प्रेम है । पिताजी, आपकी राय मूर्खतापूर्ण है । कृष्ण ऐसा पागल नहीं है, जो आप उसको इस तरह लोभ में फँसा सकें ।

हीरे-मोतियों से कृष्ण को मोल लेने का प्रयास करना, यह कृष्ण का अपमान करना है । कृष्ण बड़ों से भी बड़ा है । वह सचमुच महापुरुष है । आपकी इस योजना से हमारा भी कोई लाभ नहीं होगा । उसका सत्कार अवश्य करना चाहिए, पर इस पागलपन के प्रयास को छोड़ देना चाहिए ।” भीष्म ने कहा, “कृष्ण मान और अपमान से परे हैं । वह सत्यव्रत और सत्यप्रिय महापुरुष हैं । उनको प्रसन्न करना ही तो उनकी बात को मानना चाहिए ।”

दुर्योधन कुछ बिगड़ गया । उसने कहा, “पितामह, आप पांडवों को ही न्यायव्रत समझते हैं, और उनकी प्रशंसा से कभी नहीं थकते । पर मैंने एक योजना बना रखी है । वह यह है कि मैं कृष्ण को पकड़कर कारागार में डाल दूँ । इस तरह पांडव असहाय हो जायेंगे, और यह सारा फसाद ही समाप्त हो जायेगा । मेरी राय में यह अतिशय उत्तम उपाय है और इसे कार्यान्वित करने का मेरा प्रयास है ।”

धृतराष्ट्र यह सुनकर घबड़ा उठा । उसने कहा, “पुत्र, ऐसी नादानी हरगिज नहीं करना । कृष्ण दूत बनकर आ रहा है । वह हमारे ही परिवार का है । उसे हानि पहुँचाना पाप है ।”

भीष्म ने जब सुना तो वह ऊब उठे । उन्होंने कहा, “धृतराष्ट्र, तुम्हारा पुत्र सर्वनाश कराके ही छोड़ेगा । मुझे उसकी बातों से नफरत हो रही है । मुझे अधिक नहीं सुनना है । मैं तो जाता हूँ ।” यह कहकर भीष्म वहाँ से चले गये ।

दुर्योधन का पक्ष प्रकरांतर में पाप का ही पक्ष

इसके दूसरे दिन कृष्ण हस्तिनापुर पहुँचे। धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोण और कृप उनकी अगवानों में गये। दुर्योधन, उसके भाई और कर्ण भी स्वागत में सम्मिलित हुए। सारा नगर सजाया गया। नागरिकों ने कृष्ण का भारी स्वागत किया। कृष्ण धृतराष्ट्र के राजभवन में पहुँचे। रत्नजड़ित सिंहासन पर उन्हें बैठाया गया। कृष्ण का मुखारविंद प्रसन्नता से खिला हुआ था। वृद्धों को नमस्कार करके और औपचारिक स्वागत के बाद वह राजप्रासाद से उठकर विदुर के यहाँ चले गये। वहाँ कुंती से मिले। कुशल-स्नेह की बातें हुईं। कुंती ने अपने पुत्रों का कुशल-स्नेह पूछा। कृष्ण ने कहा, “फूफी, अब तुम्हारे दुःख के दिन समाप्त हो चुके। अब सुख का उदय हो रहा है। पांडवों के तप का फल अब शीघ्र ही मिलनेवाला है। तुम चिंता न करो।”

कुंती को सांत्वना देकर कृष्ण दुर्योधन के राजभवन की ओर चल दिये। दुर्योधन की हवेली एक अत्यंत सुंदर इमारत थी, जो इंद्र के राजभवन से भी टक्कर लेती थी। कई सीढ़ियाँ पार करके कृष्ण दुर्योधन के राजभवन के भीतर एक अत्यंत सजे दालान में पहुँचे, जहाँ दुर्योधन अपने साथियों को अगल-बगल बैठाये हुए एक ऊँचे सिंहासन पर बैठा था।

कृष्ण के पहुँचते ही दुर्योधन, शकुनि और उसके साथी दुःशासन, कर्ण इत्यादि सबने उठकर कृष्ण का स्वागत किया, और अत्यंत आदर और सत्कार के साथ उन्हें एक अच्छे ऊँचे आसन पर बैठाया। यह उच्चासन मरिच-मुक्ताओं से जड़ित और हाथीदाँत और सुवर्ण की कलपपूर्णा पच्चीकारी से अलंकृत था।

कृष्ण के मुख पर प्रसन्नता और मंद-हास था।

आकृति प्रफुल्लित थी। परस्पर की कुशल-मंगल पूछने के बाद दुर्योधन ने कृष्ण से कहा, “कृष्ण, मुझे इस बात की बड़ी चोट लगी है कि तुमने मेरा आतिथ्य स्वीकार नहीं किया। मैंने तुम्हारे सत्कार के लिए बड़ी-बड़ी तैयारियाँ कर रखी थीं। तुम्हारे लिए हमने अनेक प्रकार के व्यंजन बनवाये थे। इन सबकी अवहेलना करके तुम विदुर के यहाँ जाकर ठहरे, इसका मुझे दर्द हुआ है।”

कृष्ण पहिले तो चुपचाप सुनते रहे, पर पीछे मृदु शब्दों में कहा, “दुर्योधन, ऐसा क्यों कहते हो? तुमने तो मेरा काफी आतिथ्य किया है। तुम्हारे यहाँ नहीं ठहरा, इसकी शिकायत क्या है। अपना कार्य संपन्न होने पर मैं अवश्य ही तुम्हारे घर रहूँगा और तुम्हारा भोजन भी करूँगा।”

दुर्योधन ने कहा, “तुम्हारा यह कथन अप्रस्तुत है। तुम्हारा कार्य संपन्न हो या न हो, आखिर तुम हमारे कुटुंबी तो हो ही। दोनों पक्षों के लिए तुम समान आदरणीय हो। इसलिए हमारी तीव्र इच्छा थी कि तुम हमारे ही आतिथ्य रहते। तुम्हारे-हमारे बीच तो कोई वैमनस्य नहीं है। हमारा कुटुंब के नाते भी तुम पर कुछ अधिकार है। फिर तुमने हमारा आतिथ्य ग्रहण नहीं किया, यह तुम्हारी सरासर भूल है।” सुनकर कृष्ण कुछ मुस्कराकर कहने लगे, “दुर्योधन, तुम शिकायत करते हो इसलिए मुझे कुछ स्पष्ट कहना पड़ेगा। मुझे तुम्हारे इस वृहत् आतिथ्य में कोई रस नहीं है, क्योंकि जिस घर में सत्य और न्याय का वास न हो उस घर में भोजन करना मुझे अस्वभाविक है। तुमको पांडवों से अत्यंत द्वेष है। उनसे तुम्हारा वैर है, और यह अकारण है। जो मनुष्य लोभ के वशीभूत होकर न्याय के मार्ग से विचलित हो जाता है, उसे मैं मनुष्यों में एक

अत्यंत हीन प्राणी मानता हूँ। इसलिए तुम्हारा भोजन मेरे लिए शत्रु का भोजन है। इसे मैं कैसे खा सकता हूँ? पांडव मेरे प्राण हैं, क्योंकि वे सत्य और धर्म के मार्ग पर हैं। विदुर भी न्याय के पथ का पथिक है, इसलिए मैं तुम्हारा भोजन छोड़कर उसी के घर गया। यह स्पष्ट बात तुमको बता देना उचित था, इसलिए मुझे मुँह खोलना पड़ा।” यह कहकर कृष्ण उठ खड़े हुए और पैदल ही विदुर के घर की ओर चल निकले।

कृष्ण के साथ-साथ भीष्म और कृपाचार्य भी चल पड़े। उन्होंने कहा, “कृष्ण, हमने तुम्हारे लिए जो स्थान निश्चित किया है वहीं चलो।” पर कृष्ण ने कहा, “पितामह, आपने मुझे आशीर्वाद देकर कृतार्थ कर दिया, यह आपका कम आतिथ्य नहीं है। अब मुझे क्षमा कीजिए। आप सब लौट जाइए, क्योंकि मैं विदुर के यहाँ ही ठहरूँगा।”

विदुर के घर पहुँचते ही कृष्ण का बड़े प्रेम का स्वागत हुआ। विदुर के यहाँ भोजन करके श्रीकृष्ण ने थोड़ा विश्राम किया। इसके पश्चात् दोनों ने प्रस्तुत विषय पर आपस में संभाषण आरंभ किया। विदुर ने कहा, “कृष्ण, तुम्हारा आना व्यर्थ होगा। दुर्योधन मूढ़ है। कुछ भी सुनने को तैयार नहीं है। वह हतबुद्धि हो गया है। पाप से उसकी बुद्धि मलिन हो गयी है। वह तुम्हारा परामर्श सुनने को तैयार नहीं है। वह मानता है कि युद्ध में उसकी विजय निश्चित है। भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य अश्वत्थामा, कर्ण और जयद्रथ उसके साथ हैं और एक बड़ी सेना भी उसने इकट्ठी कर ली है। वह तो मानता है कि अकेला कर्ण ही उसकी विजय के लिए काफी है। तो फिर समझौता किस बात का? वह युद्ध से विरत नहीं होगा।”

“मुझे तो तुम्हारा इन लोगों के बीच बैठना भी अखरता है। मैं तुम्हें धृतराष्ट्र के राजभवन में जाने की भी सलाह नहीं दूँगा। वे तुम्हारा अपमान करेंगे। तुम्हें हानि भी पहुँचा सकते

हैं। यह सब मेरे लिए चिंता के विषय हैं।”

कृष्ण ने कहा, “विदुर, तुम मेरे अत्यंत हितु हो। मैं जानता हूँ कि तुम जैसा कहते हो वैसा ही होगा। यह सब जानते हुए भी मैं यहाँ आया हूँ, क्योंकि मैं इन सबको काल के मुख से बचा लेना चाहता हूँ। यदि मैं सफल हुआ तो शुभ है, पर विफल भी हुआ तो मुझे इतना तो संतोष होगा ही कि मैंने एक शुभ प्रयत्न तो किया।

“मनुष्य यदि केवल मन से ही पाप का चिन्तन करता है, और उस बुरे उद्देश्य को कार्यरूप में परिणित नहीं करता, तो वह पाप के फल से बच जाता है। इसलिए यदि मैं दुर्योधन और धृतराष्ट्र के पापी विचारों को कार्य में परिणित होने से रोक लेता हूँ, तो उन सबको मैं विनाश से बचा लेता हूँ।

“कुरु-वंश पर इस समय एक विपत्ति छायी हुई है। नाश के बादल मँडरा रहे हैं। किसी के नाश की संभावना जानते हुए भी यदि कोई प्रयत्नशील व्यक्ति उनको बचाने का कोई प्रयत्न नहीं करता, तो वह मनुष्य, मनुष्य नहीं, पशु है। पापी को पाप नाश कर रहा हो, तो सत्पुरुष का धर्म है कि उस पापी को बलात् भी हो तो भी पाप के कुर्यँ में से खँच ले। मैं यहाँ यही करने आया हूँ। यह मेरा प्रयास सारे मानव-समाज की सेवा है।

“इसीलिए मैं दुर्योधन को सब तरह से समझाना चाहता हूँ कि युधिष्ठिर शांति चाहता है। युधिष्ठिर मेरा प्रिय है। वह एक महान् पुरुष है, धर्मात्मा है। मेरे लिए यह सम्मान की बात है कि मैं युधिष्ठिर का प्रिय पात्र हूँ। उसके संतोष के लिए भी मैं इस संधि-प्रस्ताव को सफल बनाने का भरसक प्रयत्न करूँगा। इसीलिए मैं यहाँ आया हूँ। मैंने पूरा प्रयास कर लिया है, ऐसी भावना भी मुझे सतोष देगी।

“एक बात और है। मैं कौरवों की सभा में इस तरह का व्यवहार करना चाहता हूँ कि जिससे सारे संसार को

संपूर्णतया विदित हो जाये कि युधिष्ठिर शांतिप्रिय हैं और वह शांति चाहता है, और दुर्योधन चाहता है युद्ध। युधिष्ठिर एक सरल, न्यायप्रिय, धर्मात्मा व्यक्ति हैं। दूसरी ओर दुर्योधन लोभ के वश होकर पापाचरण पर तुल्य हैं।

“उसके पक्षपातियों को भी मैं यह बताना चाहता हूँ कि न्याय किसके पक्ष में है, और किस तरह वे लोग दुर्योधन का पक्ष लेकर प्रकारांतर में पाप का ही पक्ष ले रहे हैं। भीष्म, द्रोण को भी मैं यह बता देना चाहता हूँ कि वे सभी इस पाप के सामीप्य में हैं।

“युद्ध को रोका जा सकता है, और फिर भी यदि युद्ध होता ही है तो संसार जान लेगा कि युधिष्ठिर ने शांति-स्थापन का प्रयत्न किया। इन सब उद्देश्यों को लेकर ही मैं यहाँ आया हूँ।” इतना कहकर कृष्ण ने वार्ता समाप्त की और शयनागार में प्रवेश किया।

दूसरे दिन प्रातःकाल जब कृष्ण अपने निर्यत कर्म से निवृत्त हो रहे थे, दुर्योधन कर्ण और अन्य कौरवों को साथ लेकर कृष्ण को राजसभा में लिवा लेने के लिए विदुर के घर पहुँचा। दारुण कृष्ण का रथ ले आया और उस पर कृष्ण और विदुर दोनों बैठे। इधर दुर्योधन और कर्ण दुर्योधन के रथ में बैठकर कृष्ण के रथ के पीछे-पीछे चले। सात्यकि और कृतवर्मा सब उनके पीछे-पीछे चले।

कृष्ण की अगवानी के लिए कौरव-सेना के रक्षक-दल की एक टुकड़ी धृतराष्ट्र के राजमहल के द्वार पर संजित होकर कृष्ण के सम्मान के लिए उपस्थित थी। इस तरह कृष्ण का सत्कार जो हुआ वह अनुपम था।

कृष्ण के रथ के साथ हाथी और घोड़ों का जुलूस चला। सारे नगरवासी कृष्ण के दर्शन के लिए उमड़ पड़े थे। जुलूस धृतराष्ट्र के राजप्रासाद पर जाकर रुका। इस सारे कोलुहल को सुनकर कौरवपक्षीय सभी नरेश कृष्ण की अगवानी के

लिए बाहर आकर खड़े हो गये।

जब कृष्ण रथ से उतरे, तो उनका एक हाथ विदुर ने सम्हाला और दूसरा हाथ सात्यकि ने पकड़ा। कृष्ण ने कर्ण और दुर्योधन के साथ जब राजभवन के दालान में प्रवेश किया, तब धृतराष्ट्र ने अन्य सभी वृद्ध कौरवों के साथ खड़े होकर कृष्ण का स्वागत किया, और जब तक कृष्ण बैठ नहीं गये, तब तक वे सब के सब खड़े रहे। कृष्ण के लिए एक विशेष सिंहासन व्यवस्थित किया गया था। बैठने से पहले कृष्ण ने देखा कि नारद और अन्य ऋषिगण भी आये हुए हैं, जो राजसभा में प्रवेश करने को उत्सुक हैं। कृष्ण ने भीष्म से इसका संकेत किया। उसके सुनते ही भीष्मजी स्वयं ऋषियों को अत्यंत सम्मानपूर्वक भीतर ले आये।

सबको सम्मानपूर्वक अपने-अपने आसनो पर बैठाने के बाद कृष्ण भी स्मित मुद्रा के साथ अपने सिंहासन पर बैठ गये। दृष्टासन ने सात्यकि को भी सम्मानपूर्वक एक विशेष आसन पर बैठाया। दुर्योधन के भाई ने भागे बढ़कर कृतवर्मा को आसन दिया। कृष्ण के निकट ही दुर्योधन और कर्ण एक ही आसन पर बैठे। शकुनि भी उन्हीं के निकट बैठ गया। विदुर कृष्ण के आसन के निकट बैठ गये।

सबकी आँखें कृष्ण की ओर टकटकी लगाये देख रही थीं। बार-बार कृष्ण को देखने पर भी दर्शकों की भूख नहीं मिटी। कृष्ण की मोहिनी सब पर जादू बरसा रही थी। उनकी प्रतिभा से धृतराष्ट्र की राजसभा प्रकाशित हो उठी।

कृष्ण के गले में कास्तुभ मणि लटक रही थी, पीतांबर ओढ़े कृष्ण ऐसे लग रहे थे जैसे कोई श्याम पर्वत उदय होते हुए सूर्य की रश्मियों से आच्छादित हो। सभा में सन्नाटा छा गया। अचानक कृष्ण की आवाज़ ने सन्नाटे को भंग किया। कृष्ण के उद्गार से सभा-भवन गुँज उठा और ऐसा लगा मानो दूर की गर्जन से भवन गुँज रहा हो।

धर्म सभा और पाप सभा

कृष्ण धृतराष्ट्र को संबोधन करते हुए कहने लगे, “धृतराष्ट्र, मैं अनेक योद्धाओं को मृत्यु-मुख से बचाने के उद्देश्य से यहाँ आया हूँ।”

श्रीकृष्ण ने धृतराष्ट्र को संबोधन करते हुए फिर कहा, “महाराज, हस्तिनापुर आने का मेरा मुख्य हेतु है अनेक योद्धाओं को मृत्यु-मुख से बचाना। कौरव-पांडवों के बीच शांति-स्थापन हो, यह मेरा परम उद्देश्य है। आपका वंश विश्व-विदित है। भारतवर्ष में कौरव-कुल एक उत्कृष्ट वंश है। कौरवों के पूर्वजों ने बड़प्पन में खूब यश कमाया। वे दयालुता, सत्यप्रियता, उदारता, न्यायप्रियता और सद्भावना के लिए प्रख्यात रहे हैं। ऐसे वरिष्ठ वंश में जन्म लेकर आपको क्या यह उचित है कि इस परंपरा का आप नाश कर डालें ?

“जो आप कर रहे हैं वह आपके लिए अत्यंत अयोग्य है। आपके पुत्रों ने न्याय और धर्म को तिलांजलि दे डाली है। वे व्याध की तरह घोर पाप का अनुसरण कर रहे हैं। उनमें न तो संयम है, न वृद्धों के लिए सम्मान है। उनके कुकृत्यों की वार्ता आपसे छिपी नहीं है। यह स्थिति अब इतनी भयानक बन गयी है कि यह आपके वंश और संसार-भर के लिए अत्यंत घातक है। यदि आप चाहें, तो उन्हें नियंत्रण करके सही मार्ग पर ला सकते हैं। यदि कार्य कठिन भी हो, पर उसके पीछे बलवती इच्छा हो, तो वह कार्य साध्य हो जाता है। इसलिए मैं कहता हूँ कि आप अपने पुत्रों को अंकुश में रखकर उन्हें पाप-मार्ग से हटावें। इस राज-सभा के सभी लोग यह जानते हैं कि आप चाहें तो अपनी सत्ता स्थापित करके अपने पुत्रों को मृत्यु-मार्ग से बचा सकते हैं। आपका हस्तक्षेप वर्तमान परिस्थिति में कौरव-

वंश के लिए हितकर है। यदि आप कौरवों और पांडवों के बीच शांति-स्थापन करा दें तो आपकी कीर्ति अमर रहेगी।

“जरा सोचें तो सही कि कौरव-पांडव दोनों पक्ष यदि आपके सहायक बनकर आपकी रक्षा करेंगे, तो आप हर प्रकार के शत्रुओं से संरक्षित हो जायेंगे। भीष्म, द्रोण इत्यादि के अतिरिक्त युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन भी जब आपके पक्ष में होंगे तो आपका विक्रम और वैभव कितना बढ़ जायेगा। यह विक्रम सारे संसार को प्रकाशमय कर देगा। इस लोक और परलोक में आपकी महान् श्लाघा होगी। सारे विश्व का आधिपत्य आपके अधीन हो जायेगा। आपका कोई शत्रु नहीं रहेगा। इस चित्र को ध्यान से विचारिए।

“इस यश की उपलब्धि के विपरीत आप पाप को उत्तेजना देकर अपयश बटोरने जा रहे हैं। आपके कुटुंब में फूट पड़ने से आपको क्या लाभ होगा ? आपके पुत्र और उनके साथी योद्धाओं की मृत्यु से आपको क्या सुख मिलेगा ? आपके पुत्र बलवान हैं, पर पांडव उनसे अधिक बलवान हैं। इन दो वंशों में युद्ध का परिणाम अत्यंत घातक होगा। जितने योद्धा एकत्रित हुए हैं उनकी मृत्यु निश्चित है।

“पांडव सत्पुरुष हैं। आपके प्रति उनका पूज्य भाव है। स्मरण कीजिए कि किस तरह ये पितृहीन पांडव बालक आपकी शरण में आये थे। फिर भी उनके साथ आपने घोर दुर्व्यवहार किया। उन्हें मार डालने का षड्यंत्र हुआ, वनवासी बनाया गया, और उनकी सारी सम्पत्ति आपने छीन ली। यह सब पाप हुआ है।

“इसका मार्जन करने के लिए आप अपनी चाल

बदलिय। एक पिता का-सा व्यवहार उनके साथ कीजिय। धर्म-मार्ग को ग्रहण करके पाप से हटिय। इस मार्ग से आपको पाँचों पाँउव भाइयों का प्रेम प्राप्त होगा, और आपका स्थायी कुशल होगा।

“आपको यह एक अच्छा अवसर मिल रहा है, जबकि आप अपने पूर्व-कृत सारे पापों को धो सकते हैं। इसलिए पाँउवों के साथ पुत्रों का-सा बर्ताव कीजिय और कौरवों-पाँउवों के बीच स्थायी शांति-स्थापन करवाइय।

“आपकी इस राजसभा में धर्म कहाँ है? जहाँ न्याय अन्याय से और सत्य असत्य से दबा दिया जाता है, जहाँ सभा के वयोवृद्ध सदस्य इन अन्यायों को देखकर भी मौन रहते हैं, वह सभा धर्म-सभा नहीं कही जा सकती। वह तो पाप-सभा बन जाती है। इसलिए मेरे कथन पर गंभीरता से विचार कीजिय। पाँउवों का राज्य पाँउवों को लौटा दीजिय।

“युधिष्ठिर धर्म की मूर्ति हैं। उसके साथ जो अन्याय हुआ है, उसे वह भूल जायेगा और आपके प्रति उसका आचरण पिता के जैसा ही होगा।

“महाराज, मैं आपका हितैषी हूँ। आपका शुभचिंतक हूँ। इसलिए मैं आपको अपने पुत्रों के गृह्य-दुःख से बचाना चाहता हूँ। यदि अपनी वृद्धावस्था में आप शांत जीवन बिताना चाहते हैं, तो पाँउवों से मेल-मिलाप कीजिय। दूसरा कोई मार्ग नहीं है।”

कृष्ण का वक्तव्य सुनकर सन्नाटा छा गया। सभी ने कृष्ण के वाक्यों को चुप्पी के साथ सुना। कृष्ण जब अपना सभाषण समाप्त कर चुके, तब भी किसी के मुँह से एक शब्द तक नहीं निकला।

कुछ क्षण के बाद धृतराष्ट्र की ही जबान खुली। उसने

कहा, “कृष्ण, तुम्हारा कथन मैंने बड़े ध्यानपूर्वक सुन लिया। पर क्या तुम नहीं देख सके कि मैं नितांत असहाय हूँ? मेरी कौन सुनता है? मेरे पुत्रों को मेरे प्रति कोई सम्मान नहीं है। वे मेरी कोई भी बात मानने को तैयार नहीं हैं। यदि तुम दुर्योधन और कर्ण को मना सके, तो यह मेरा भी उपकार होगा। गांधारी ने भी दुर्योधन को समझाया, पर वह भी विफल हुई। विदुर ने प्रयास किया, भीष्म ने किया, पर सभी विफल हुए। अब तुम भी प्रयास करके देख लो। मैं इसके लिए तुम्हारा कृतज्ञ होऊँगा।”

इस पर कृष्ण दुर्योधन को संबोधित कर कहने लगे, “दुर्योधन, मेरे शब्दों को ध्यान देकर सुनो। कौरवों के उत्कृष्ट वंश की तुम एक उत्कृष्ट संतान हो। तुम समृद्धि-शाली हो। कौरवों की कुलीनता के अनुरूप तुममें सब गुण आये हैं। फिर भी तुम इस हीन कर्म में क्यों प्रवृत्त हुए हो?

“प्रिय दुर्योधन, जो नीच-कुल में जनमे हैं, जिनकी मनोवृत्ति तुच्छ है, वे ही लोग लोभ के वश होकर तुम्हारी तरह नृशंस बनते हैं। पर तुम्हारे वंश की परंपरा तो भिन्न है। तुम उस परंपरा के विरुद्ध क्यों आचरण कर रहे हो? सत्पुरुष धर्म के मार्ग पर चलते हैं। दुष्ट ही इस तरह के पाप का अनुसरण करते हैं। तुम्हारा यह आचरण कल्पित है। अतः तुम्हारे लिए यह शाश्वत कलंक है।

“मैं कहता हूँ कि तुम अपनी आत्मा की रक्षा करो। अब भी समय है कि इस शाश्वत कलंक से तुम अपने आपको, अपने परिवार को और अपने भाइयों को बचाओ। विवेकपूर्वक निश्चय पर आकर इस पाप-कर्म से मुँह मोड़ो। तुम्हारे पिता, माता और अन्य वयोवृद्ध सभी यह चाहते हैं कि शांति-स्थापन हो। तुम यदि मान लो तो उन

सबके हर्ष के कारण बन जाओगे। इसलिए क्यों हिचकिचाते हो? वृद्धों की राय की अवहेलना मत करो। याद रखो, तुम्हारा कल्याण शान्ति-स्थापन में ही है।

“संसार में तीन तरह के लोग होते हैं। एक तो वे, जो स्वभाव से ही धर्म के मार्ग पर चलते हैं। दूसरे वे, जो अपने लाभ की ओर ही आकर्षित होते हैं। यदि तुम द्वितीय श्रेणी में हो तो मैं जो कहता हूँ वह तुम्हारे लिये लाभकर है। तुम पांडवों से संधि-स्थापन करो। तुम कर्ण और शकुनि की सहायता से साम्राज्य-स्थापन करना चाहते हो, पर यदि पांडव भी तुम्हारे पक्ष में आ जायें तो तुम्हारे लिए यह कार्य अत्यंत सुलभ होगा, क्योंकि पांडव बलवान हैं।

“अर्जुन और भीम के मुकाबले का योद्धा आज कौन है? भीष्म पितामह भी उनकी बराबरी में नहीं टिक सकते। तुम पांडवों से मैत्री करो, तो तुम्हारा पिता इस वृहत् साम्राज्य का सम्राट् बनेगा। किसी की हिम्मत नहीं होगी कि कोई तुम्हारी जड़ ढीली कर सके।

“एक तीसरी श्रेणी का मनुष्य होता है, जिसकी महज पाप-कर्म में ही आसक्ति रहती है। वह बिना ही कारण पाप में प्रवृत्त होता है। वह अपने हानि-लाभ का विचार किये बिना ही पापाचरण करता रहता है। अवश्य ही उस श्रेणी में तुम्हारी गणना नहीं हो सकती।

“सोचो कि पांडवों से संधि-स्थापन करके तुम्हारा वैभव, यश और बल कितना बढ़ जायेगा? इन सब लाभों के प्रति तुमने आँखें क्यों मूंद रखी हैं? इस पाप को छोड़ने और एक नयी प्रतिभा के प्रकाश में प्रवेश करके दीप्त हो जाओ। पांडवों को उनका हिसाब देकर विश्व को नाश से बचाओ।”

कृष्ण के इस कथन के बाद भीष्म और द्रोण ने भी श्रीकृष्ण का समर्थन किया। उन्होंने भी कहा, “पांडवों का हिस्सा पांडवों को देकर सर्वनाश से बचो।”

श्रीकृष्ण के इस सारे प्रवचन में कोई लल्लोचप्पो नहीं

था। कृष्ण के वक्तव्य में स्पष्टता थी, पर आत्मीयता भी थी। धृतराष्ट्र को लतेड़ा। उसके पाप-कर्म पर से पर्दा हटाकर उसे साफ-साफ सुनाया। भीष्म पितामह और द्रोण इत्यादि, जो चुप्पी साधे थे, उन्हें भी पाप का हिस्सेदार बताया। दुर्योधन को भी लतेड़ा और यह भी बताया कि इस पाप-मार्ग से अंत में सबका विनाश होगा। यह भी बताया कि इस पाप से विमुख होने का दूसरा पक्ष भी है, जिसमें सुख, कीर्ति और यश की उपलब्धि है।

कौरव वंश की बड़ाई करके यह भी बताया कि उस परंपरा को सुरक्षित करना कौरव-संतान का धर्म है। “तुम अच्छे, मैं भला”—ऐसा वागजाल नहीं फैलाया।

धृतराष्ट्र तो शर्म के मारे अपनी असहायता प्रकट करके संतुष्ट हो गया। भीष्म और द्रोण ने श्रीकृष्ण का समर्थन करके अपनी जान छुड़ायी, पर खल-मंडली का नायक तो दुर्योधन था। वह इस सारे प्रवचन को सुनकर जल-भुनकर उबल रहा था। उसमें उपन आना अवश्यंभावी था। और वह आ ही गया।

दुर्योधन का चेहरा तमतमा रहा था। अब तक तो वह सुनता ही रहा था। अब उसका क्रोध उमड़ चला और वह कृष्ण की ओर मुँह फेरकर उनसे कहने लगा, “कृष्ण, मैं सब सुन रहा हूँ। तुम, मेरे पिता, भीष्म और विदुर सभी मुझ पर ही इल्जाम लगा रहे हैं। मेरी समझ में नहीं आता कि मैंने कौन-सा पाप किया। युधिष्ठिर द्यूत में सब कुछ हार बैठा, इसमें मेरा क्या दोष? मैंने तो हारे हुए युधिष्ठिर को उसकी सारी संपत्ति वापस लौटा दी थी, पर दूसरी बार फिर द्यूत में हारकर अपने कौल-करार के मुताबिक उसे वन जाना पड़ा। इसमें भी मेरा क्या दोष? मैंने युधिष्ठिर का क्या बिगाड़ा? फिर भी वह युद्ध ही करना चाहता है, तो मैं भी तैयार हूँ। यदि इंद्र भी युधिष्ठिर के पक्ष में आ जाये, तो मैं नहीं डरूँगा। भीष्म, द्रोण, कर्ण सब मेरे पक्ष में हैं। मैं

क्षत्रिय-धर्म का पालन कर रहा हूँ। युद्ध में मुझे मरना ही है, तो भी मुझे क्या दुःख है। स्वधर्म का पालन करते हुए मरूँगा, तो स्वर्ग का द्वार मेरे लिये खुल जाता है। मैं मर जाऊँगा, पर किसी के सामने सिर नहीं झुकाऊँगा।

“युधिष्ठिर क्यो इंद्रप्रस्थ का सपना देख रहा है ? इंद्र-

प्रस्थ तो गया, अब 'उसको वह मिलनेवाला है ही नहीं' कृष्ण, मैं जो कह रहा हूँ उसे अच्छी तरह समझ लो और याद रखो, और युधिष्ठिर को साफ बता दो। इंद्रप्रस्थ तो क्या एक सूई की नोक बराबर भूमि भी मैं युधिष्ठिर को नहीं देनेवाला हूँ। यह मेरा अंतिम निर्णय है, इसे तुम जान लो।”

इंद्रियों को नहीं जीत पाये तो शत्रुओं को कैसे जीतोगे ?

कृष्ण ने दुर्योधन के वचन सुनकर जोर से एक अट्टहास किया। इस अट्टहास में खेद और क्रोध दोनों मिश्रित थे। उसे सुनकर सारी सभा कांप उठी। सभा के लोगो ने कृष्ण की मुस्कान देखी थी, उन्हें क्रोधित भी देखा था, गंभीर भी देखा था, और चिंतित भी देखा था। सभी तरह के भाव उनके चेहरे के लोगो ने देखे थे। पर यह अट्टहास कुछ अजीब था, कुछ असाधारण था। सारी सभा में इस अट्टहास ने कंपकंपी पैदा कर दी। अट्टहास करके कृष्ण अचानक अपने रत्न-जडित सिंहासन से उठ खड़े हुए। उनकी आँखें लाल थीं, पर चेहरे पर क्रोध नहीं था।

कृष्ण ने कहा, “दुर्योधन, सुनो। तुम मरना चाहते हो ? तथास्तु। थोड़े ही दिनों में तुम्हारी यह इच्छा पूरी होनेवाली है। मृत्यु से तुम्हारी भेंट अवश्य ही होगी। धीरज रखो। तुम और तुम्हारे साथी सभी काल के कराल मुख में विलीन हो जानेवाले हैं। तुम कहते हो, तुमने युधिष्ठिर का क्या बिगाड़ा ? तुम्हें यह कहते शर्म नहीं आती ? इस सभा में जो लोग उपस्थित हैं वे क्या इस बात से अनभिज्ञ हैं कि युधिष्ठिर के साथ तुमने घोर दुर्व्यवहार और अन्याय किया है ? युधिष्ठिर को द्यूत में शकुनि ने छल-कपट से हराया, क्या यह किसी से छिपा है ? अपने भाई की बहू को भरे दरबार में लूकर तुमने बेहज्जत किया, उसके बाल पकड़कर उसे सभा में घसीटा गया। बड़े-बुड़े जो यहाँ उपस्थित थे, इस कुकृत्य को देखते रहे, पर किसी ने विरोध में आवाज तक नहीं उठायी। जो-जो बुरे शब्द तुमने, शकुनि ने, दुःशासन ने और कर्ण ने द्रौपदी को कहे वे क्या भुलये जा सकते हैं ? सारे पांडवों को बारणावत में जलाने का षड्यंत्र तुमने रचा, भीम को जहर दिया और सांपों से कटवाया। इतने सब

कुकृत्य करके भी कहते हो कि मैंने युधिष्ठिर का क्या बिगाड़ा ? क्या तुम्हारा विवेक नष्ट हो गया है ? तुम्हारी बुद्धि सचमुच भट्ट हो चुकी है तभी ऐसी बात करते हो। तुम महापापी हो, महा घृणित हो।”

दुःशासन बीच में ही कहने लगा, “दुर्योधन, तुम्हारे पिता, भीष्म, द्रोण और कृष्ण सबने मिलकर एक षड्यंत्र रचा है कि तुम्हें और हम सबको बंदी बनाकर पांडवों की निगरानी में सौंप दें जिससे बाध्य होकर तुम्हें पांडवों से संधि करनी ही पड़े।” दुर्योधन जे जब दुःशासन के यह शब्द सुने, तो वह सांप की तरह फुंकार मारकर खड़ा हो गया, और राजसभा से बाहर निकल गया।

अभिमान, दर्प और क्रोध से भरा दुर्योधन सभा में से ऐसे निकला, जैसे कोई व्याघ्र साधारण पशु-समूह के बीच से निकलता हो। उसका अभिमान उपचार की सीमा से बाहर पहुँच चुका था। दुर्योधन इतना असहिष्णु था कि वह अपनी आलोचना को सुन भी नहीं सकता था। इसलिए वह सभा में से उठकर चल ही दिया और उसके साथ उसके भाई और अन्य साथी भी बाहर निकल गये।

भीष्म ने यह सब देखा तो उसे दख भी हुआ और क्रोध भी। वह कहने लगा, “कृष्ण, इन लोगों का अंत आ रहा है। मैंने इसे टालने का प्रयत्न किया, पर विफल हुआ। इनका तो नाश होगा ही, पर क्षत्रिय-वंश का भी नाश निश्चित है। काल बलवान है, इसको कोई टाल नहीं सकता।” भीष्म की यह बात सुनकर कृष्ण बोले, “पितामह, इस सब दोष के आप लोग भी तो हिस्सेदार हैं। आप इन सब पापों को बढ़ाश्त करते रहे, इसी का यह अशुभ परिणाम है। आपको चिंहाय था कि इन सब दुष्टों को बाधकर इन्हें



कारावास में डाल देते। अब भी समय है कि आप दुर्योधन को बंदी बनाकर कारावास में डाल दें। मेरे मामा कंस ने जब सारी प्रजा को त्रस्त किया, तो मैंने उसे मार ही डाला। मैंने उस पर कोई दया नहीं दिखायी। मुझे इसका खेद नहीं है।

“जन-हित में मैंने ऐसा किया। समाज के हित के लिए आपको भी चाहिए था कि दुर्योधन, शकुनि, दुःशासन और कर्ण इन चारों को कारावास में डाल दें और इन्हें पांडवों के सुपुर्द कर दें। बुद्धिमानों का कथन है कि कुटुंब के लिए व्यक्ति को, ग्राम के लिए कुटुंब को, समाज के लिए ग्राम को और आत्म-कल्याण के लिए सर्वस्व को त्यागना चाहिए। क्षत्रियों को बचाने का एकमात्र उपाय इन दुष्टों को नियंत्रण में रखना है। मेरी बात मानकर अबकी आप इसी मार्ग पर चलिए।”

धृतराष्ट्र ने कृष्ण के तीक्ष्ण वचन सुने, तो अत्यंत भयभीत हो गया। वह विदुर से कहने लगा, “विदुर, जरा गांधारी को भी बुलाओ। हम दोनों मिलकर फिर कुछ उद्योग करें। अगर हमें सफलता मिली, तो इस भय से सबकी रक्षा हो पायेगी। गांधारी बुद्धिमान हैं, शायद दुर्योधन पर उसका कुछ असर हो।”

गांधारी जब आयी, तो धृतराष्ट्र ने कहा, “गांधारी, तुम्हारा पुत्र पाप की चरम सीमा पर पहुँच गया है। वह बड़े-बुद्धों की किसी की नहीं सुनता। हम लोगो पर सब पर यह महान् विपत्ति है। तुम दुर्योधन को समझाकर उसे सही मार्ग पर लाओ।”

गांधारी ने विदुर को कहकर फिर दुर्योधन को बुलाया। पर साथ-साथ वह अपने पति धृतराष्ट्र से भी कहने लगी, “महाराज, अति लोभी राजा राज्य का अधिकारी नहीं हो सकता। दुर्योधन की महत्वाकांक्षा सीमा को उल्लंघन कर चुकी है। पर दुर्योधन से आपका दोष कहीं अधिक है। अपने पुत्र के

मोह-पाश में फँसकर अपने धर्म को तिलांजलि दे डाली। जानबूझकर आपने अपने पुत्र के पापों का समर्थन किया। अब उस पर आपका फिर से आधिपत्य पाना दुष्कर है।

“मेरी सम्मति के विपरीत आपने उसे राजा बनाया। अब आप अपने किये का फल भुगत रहे हैं। दुर्योधन का आपने पक्ष किया, और पांडवों के साथ अन्याय और दुर्व्यवहार किया, जो किसी भी धार्मिक राजा के लिए अयोग्य था। अब इस करनी का फल आपको भुगतना ही पड़ेगा।”

इसी बीच दुर्योधन ने फिर से राजसभा में प्रवेश किया। पर उसकी आँखें आग की तरह जल रही थीं। तो भी गांधारी ने उसे प्यार से कहा, “पुत्र, मेरी बात सुनो, इस कुरु-राज्य का सम्राट् बनने की तुममें योग्यता चाहिए। जिस मनुष्य में लोभ, द्वेष, अहंकार और दंभ है वह राज्य का अधिकारी नहीं हो सकता। जिसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, वह राज्य का अधिकारी नहीं है। इस दृष्टि से तुम इस राज्य के योग्य नहीं हो, क्योंकि तुमने यदि इन्द्रियों को नहीं जीता तो शत्रुओं को कैसे जीतोगे?

“तुम्हारी यह दुर्बलताएँ ही तुम्हारे सबसे बड़े शत्रु हैं। इनका नियंत्रण करो, तो ही तुम शत्रुओं का दमन कर सकोगे। तुम जरा मेरे पास बैठकर सुनो, मैं तुम्हारी सबसे बड़ी हितैषी हूँ। मेरा तुम पर अत्यंत स्नेह है, इसलिए मैं तुम्हारी रक्षा करना चाहती हूँ। मैंने तुम्हें जनम दिया है। जब तुम जनमें, उस समय अनेक अपशकुन हुए थे, पर मैंने उन सबकी अवहेलना की, क्योंकि मैंने माना था कि मेरा पुत्र पाप का अनुसरण कर ही नहीं सकता। अब तुम पापाचरण करके सारे वंश पर भारी विपत्ति ला रहे हो, इसलिए इस मार्ग से हट जाओ।

“कृष्ण और अर्जुन यह दोनों नर और नारायण के अवतार हैं। उनसे बैर मत करो। उन पर तुम विजय नहीं पा सकते। जहाँ धर्म है, वहाँ ही विजय है। धर्म तुम्हारे पक्ष

में नहीं है, इसलिए विजय कृष्ण और अर्जुन की होगी, तुम्हारी नहीं। तुम्हारा इनके हाथ से ही सर्वनाश होगा। इसलिए मेरी बात सुनो और पाप से हट जाओ।”

धृतराष्ट्र ने भी फिर से गांधारी का समर्थन किया; पर दुर्योधन तो क्रोध के मारे आग-बबूला हो रहा था, उसने अपना मुँह फेर लिया और राजसभा से निकल चला।

राजसभा से निकलकर दुर्योधन सीधा कर्रा, शकुनि और दुःशासन के पास गया और उनसे कहने लगा, “देखो, अब मेरी माँ को भी राजसभा में बुलाकर मुझ पर दबाव

डालने की कोशिश हो रही है। मैं इन चालबाजियों से तंग आ गया हूँ। समय आ गया है कि इन सब ‘हित-चितको’ और उनके ‘परामर्श’ को हम समाप्त हो कर डालें। इन सबने निश्चय कर लिया है कि हम चारों को बाँधकर युधिष्ठिर के अधिकार में सौंप दिया जाये। पिता ने भी इस परामर्श को मान लिया है। यह सारी कृष्ण की योजना है। उसी की यह सारी चालबाजी है। तो फिर कृष्ण को ही हम क्यों न बंधन में डाल दें? सारी भगड़े की जड़ तो कृष्ण ही है, इसलिए हमें शीघ्रता से कृष्ण को ही पकड़ना चाहिए।”

विवेक से ही विश्वरूप के दर्शन

साह्यिक को इस सारे षड्यंत्र का पता चल गया। उसने तुरंत कृतवर्मा को जाकर बताया, “सुनो, तुम्हारे मित्र और उनके मित्र कृष्ण को बंधन में डालने की सोच रहे हैं। तुम शीघ्र ही अपनी सैन्य को एकत्रित करो। मैं सारी बात कृष्ण को बताने जा रहा हूँ।” साह्यिक राजसभा में दौड़कर गया और कृष्ण को सारी खबर सुनायी। धृतराष्ट्र और विदुर ने भी इस योजना का हाल उससे सुना। साह्यिक ने धृतराष्ट्र से कहा, “तुम्हारे पुत्र की बुद्धि तो देखो, जो रेशम के वस्त्र में अग्नि को बाँधना चाहता है।”

विदुर तो सुनकर स्तब्ध ही हो गया। उसको सबका नाश स्पष्ट दिखायी देने लगा। पर कृष्ण पर इसका कोई असर नहीं हुआ। उन्होंने उन सबको शांत किया और कहने लगे, “तुम क्यों इतना भयभीत हो रहे हो? मुझे बंधन में डालना कोई सरल कार्य नहीं है।” फिर उन्होंने धृतराष्ट्र से कहा, “धृतराष्ट्र, तुम्हारे पुत्रों के पाप का घड़ा भर गया है, अब यह फूटनेवाला है।”

पर धृतराष्ट्र भयभीत था। उसने दुर्योधन को फिर से बुलाकर कहा, “तुम पाप में तो डूबे पड़े हो हो, पर इस हद तक जाओगे यह मैंने भी नहीं सोचा था। तुम यह क्या मूर्खता की योजना बना रहे हो। कृष्ण एक महान् पुरुष हैं। उनको कोई भी हानि नहीं पहुँचा सकता। देवताओं की भी शक्ति नहीं कि वे कृष्ण को बंधन में डाल दें। तुम सूर्य को पकड़ सकते हो, पृथ्वी को उठाकर फेंक सकते हो, वायु को भी बाँध सकते हो, पर कृष्ण को नहीं पकड़ सकते।”

कृष्ण ने दुर्योधन से हँसकर कहा, “मूर्ख, तुम समझते हो मैं अकेला हूँ। मुझे तुम पर दया आती है। जरा नजर डालकर देखो क्या हो रहा है।” इतना कहते ही राजसभा भीड़ से

भरने लगी। लोगो ने देखा उस भीड़ में पांडव, आंधक, वृष्णि, बारह मरुत, एकादश रुद्र, आठ वसु सभी उपस्थित थे।

कृष्ण ने फिर अट्टहास किया। उनके मुख पर एक अद्भुत तेज और शान्ति छायी हुई थी। शरीर से एक ज्योति निकल रही थी। कृष्ण के शरीर ने एक अद्भुत रूप धारण कर लिया। उनके ललाट पर ब्रह्मा बैठा हुआ दिखायी दिया। वक्षस्थल पर एकादश रुद्र बैठे दिखायी दिये। कंधे पर इंद्र, वरुण, कुबेर और यम दिखायी पड़ते थे। आदित्य, वसु, अश्विनीकुमार सभी कृष्ण के शरीर में प्रकट दिखायी देते थे। बायीं ओर तमाम योद्धा पांडवों के पक्ष में बैठे दिखायी देते थे। बायें हाथ से बलराम भी निकलते हुए दिखायी दिये। दाहिने हाथ की ओर अर्जुन गांडीव धारण किये दिखायी दिया। भीम, नकुल, सहदेव और युधिष्ठिर भी अर्जुन के पोछे खड़े दिखायी दिये। वृष्णिवंशी और अनेक योद्धा शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित पांडवों के पक्ष में खड़े दिखायी दिये। कृष्ण के सहस्रों हाथ दिखायी देते थे। शंख, चक्र, गदा, पद्म कृष्ण के हाथों में थे।

कृष्ण की आँखों और नाकों में से अग्नि की ज्वाला निकलती हुई दिखायी देती थी। ऐसा लगता था कि बिना रूप की मृत्यु ने एक भीषण रूप धारण कर लिया है जो सभा में इसी रूप में उपस्थित खड़ी थी। कृष्ण के तेज और भीषणता को देखकर सभा के लोगो ने आँखें मूँद लीं। सबकी आँखें बंद थीं, पर भीष्म, द्रोण और उपस्थित ऋषियों की आँखें खुली थीं, मानो चक्षुओं द्वारा इस अद्भुत विश्वरूप का वे सब पान कर रहे हो। ईश्वर ने इन सबको इस विश्वरूप का दर्शन करने की शक्ति दे दी थी। इसलिए इनकी आँखें खुली थीं।

इस बीच एक अद्भुत चमत्कार हुआ। धृतराष्ट्र अंधा तो था, पर उसे भी इस विश्वरूप का दर्शन करने के लिए भगवान ने आँखें दे दीं। आँखों में दृष्टि आते ही वह इस विश्वरूप को देखता ही रहा। देखकर भी संतोष नहीं हुआ और बार-बार विश्वरूप भगवान का दर्शन करता रहा।

दैवी संगीत चारों ओर सुनायी दे रहा था। आकाश से पुष्पों की वर्षा होने लगी। धृतराष्ट्र की आँखों से अश्रुधारा बह रही थी। उसने कहा, “कृष्ण, इस विश्व के तुम स्वामी हो। मेरा अहोभाग्य है कि मैं तुम्हारे इस रूप का दर्शन कर सका। मुझे अब कुछ नहीं चाहिए। मैं देख चुका। अब मेरी आँखें वापस ले लो। मैं कृत-कृत्य हो गया।”

इसके बाद घोर कोलाहल के साथ पृथ्वी काँप उठी। भूमि-कंप हुआ। समुद्र और नदियों का पानी सूखने लगा। लोग भयभीत हो गये। कृष्ण ने लोगों का घ्रास देखकर फिर अपना सौम्य रूप धारण कर लिया।

अब कृष्ण ने सबसे विदा माँगी। सब सभासद कृष्ण को उनके रथ तक पहुँचाने आये, पर उन्होंने किसी से बात तक नहीं की। कृष्ण की आँखों में खेद था। जाते समय धृतराष्ट्र ने कृष्ण से कहा, “कृष्ण, तुमने देख लिया। मैं असहाय हूँ। मुझ पर क्रोध मत करना। मुझे पांडवों से द्वेष नहीं है। पर मेरा वश नहीं है।”

कृष्ण ने यह सुनकर रथ पर चढ़ते-चढ़ते कहा, “सभासदों, वयोवृद्धों, आप लोगो ने देख लिया कि मैंने भरसक प्रयास किया कि शांति हो, युद्ध न हो। आप लोगो ने यह भी देख लिया कि दुर्योधन अभिमान और अहंकार के वश मे होकर मुझसे भी दुर्व्यवहार करना चाहता था। अब मैं दुर्योधन की मूर्खता और उसके अहंकार के कारण विफल होकर वापस जा रहा हूँ। जो प्रयत्न कर सकता था, वह मैंने कर लिया। अब कोई यह मत कहना कि कृष्ण ने शांति-स्थापन का प्रयास नहीं किया। मुझे खेद है, पर

संतोष है कि मैंने प्रयास तो किया।”

इसके बाद विदुर के घर जाकर कृष्ण ने कृती को नमस्कार किया, और कहा, “कृष्ण, पांडवों से क्या कहें?” कृती ने कहा, “कृष्ण, मैं अपने पुत्रों को देखने के लिए अत्यंत उत्सुक हूँ, पर उनसे कहना, ‘तुम क्षत्रिय हो। कृती के पुत्र हो। जब तुम जनमे, देवताओं ने तुम्हें आशीर्वाद दिया था। इसलिए क्षत्रिय-धर्म का पालन करो।’ द्रौपदी को कहना, ‘तुम्हारी जैसी पुत्र-वधू पाने का मुझे सौभाग्य है। मैं प्रसन्न हूँ। कृष्ण तुम सबके रक्षक है, इसलिए मुझे तुम्हारी किसी की भी कोई चिंता नहीं है। तुम्हारा मंगल हो।”

कृष्ण के जाने के बाद भीष्म, द्रोण और विदुर ने फिर दुर्योधन को समझाने का प्रयत्न किया, पर वह टस से मस नहीं हुआ। आखिर युद्ध की तैयारियाँ होने ही लगीं।

महाभारत में कृष्ण की कार्यचर्याओं का जो वर्णन है—और सारा महाभारत आदि से अत तक इसी प्रकार के चित्रों से भरा पड़ा है—उनमें सबसे अद्भुत प्रसंग है श्रीकृष्ण का युधिष्ठिर की ओर से शांतिदूत बनकर दुर्योधन की सभा में जाना। जिस कार्य-कुशलता और दक्षता से दुर्योधन की राजसभा में कृष्ण ने व्यवहार किया, जिस तरह से न्याय, धर्म, नीति और व्यवहार सबको सामने रखकर उन्होंने शांति का प्रयास किया, वह इतना अद्भुत है कि वर्तमान काल के कुटनीतिज्ञों और विशारदों को भी इसमें से सीखने को काफी मसाला मिल जाता है।

कृष्ण का पांडवों से पक्षपात था। दुर्योधन के प्रति कृष्ण का सद्भाव नहीं था। इतना होने पर भी कृष्ण अपना विशाल हृदय दिखाकर दुर्योधन तथा उसके अन्य साथियों को विनाश से बचाने के लिए हस्तिनापुर गये और शांति के लिए जीतोड़ प्रयत्न किया। सभा में कृष्ण ने जो सभाषण किया उसमें न तो कोई चापनुसी थी, न कोई क्रोध था।

कृष्ण ने दुर्योधन का आतिथ्य ग्रहण नहीं किया, पर जब अधिक प्रश्नोत्तर होने लगे तो साफ-साफ कह दिया कि जब तक मेरा कार्य संपन्न नहीं होता, तब तक तुम्हारा भोजन मेरे लिए अग्राह्य है। किसी भी खरे शब्द को कृष्ण ने मिश्री से नहीं लपेटा।

कृष्ण जानते थे कि दुर्योधन उन्हें शारीरिक हानि पहुंचाने का भी प्रयत्न कर सकता है, तो भी निर्भय होकर साहस और बुद्धिमत्ता के साथ उन्होंने खतरे का सामना किया। खरी-खरी सुनाने में, चाहे वह धृतराष्ट्र हो या भीष्म या द्रोण हो या दुर्योधन, कृष्ण ने कोई कसर नहीं रखी। इस तरह का अदभुत आचरण एक महान् बुद्धिशाली और तेजस्वी व्यक्ति ही कर सकता है।

इस अद्वितीय प्रसंग से कृष्ण का गंभीर ज्ञान, कार्य-कुशलता, उसका साहस, धर्म और कुशाग्र बुद्धि सारी की सारी एक ही स्थान पर व्यक्त होकर सूर्य की तरह प्रकाश फैला देती है। विफल होकर भी उसका सारा बोझ कौरवों के सिर डालकर जनता को यह प्रदर्शित कर दिया कि पांडव शांति चाहते हैं, दुर्योधन हिंसा चाहता है।

जब कृष्ण को बधन में डालने का षड्यंत्र रचा गया तो उसका श्रीकृष्ण पर कोई असर नहीं हुआ। उन्होंने स्मित हास्य से साहसिक से कहा, “क्यों उरते हो? मुझे बोधना कोई आसान खेल नहीं है, क्योंकि मैं अकेला नहीं हूँ।”

जब कृष्ण ने कहा, ‘मैं अकेला नहीं हूँ’ तो इसका तात्पर्य यह था कि कृष्ण के पक्ष में न केवल शारीरिक बल ही था बल्कि एक महान् नैतिक बल भी था। ‘धिकं बलं क्षत्रिय बलं ब्रह्मतेजो बलम् बलम्’—एक ब्रह्म-तेज था। उस तेज से कृष्ण ने सभा में ऐसा विश्वरूप दिखाया कि उस रूप ने

दीप्त होकर सारी-की-सारी सभा को जगमगा दिया। उस विश्वरूप में समस्त मारुत, आठ वसु, ग्यारह रुद्र और सारे पांडव भी कृष्ण के शरीर में उज्ज्वल रूप से खड़े दिखायी देने लगे।

चाहे उस दृश्य को लोगो ने शारीरिक चक्षुओं से देखा या तो मानसिक चक्षुओं से, यह अप्रस्तुत है। असलियत तो यह है कि उस विश्वरूप-दर्शन से विपत्तियों में आतंक छा गया और सुहृदों को आश्वासन मिल गया।

इस गूढ़ घटना का अध्यात्म-दृष्टि से ही अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि इस सारे विवरण में एक ही सार है, एक ही शिक्षा है और वह यह कि शारीरिक बल या बाहुबल से नैतिक और धार्मिक बल लखो गुणा अधिक प्रबल है। यही इसका सार है, यही इसका तात्पर्य है।

इसका शाब्दिक अर्थ नहीं, पर व्यापक मार्मिक अर्थ ही समझना चाहिए। उस विश्वरूप को सब नहीं देख पाये, क्योंकि सबको चकाचौंध लग गयी अर्थात् जो हतबुद्धि थे वे सोचने की शक्ति खो बैठे थे, इसलिए उस विश्वरूप का दर्शन नहीं कर सकते थे, अर्थात् उसका तात्पर्य नहीं समझ सकते थे।

भीष्म, द्रोण और अन्य ऋषिगण जो वहाँ उपस्थित थे और जिनमें विवेक था, वे प्रज्ञा-चक्षुओं के सहारे उस विश्वरूप का दर्शन कर सके। धृतराष्ट्र को भी भगवान् ने यह प्रज्ञाचक्षु दी। उसके बल पर वह भी उस रूप का दर्शन कर सका। पर वह दृश्य उसके लिए इतना भयप्रद साबित हुआ कि उसने कहा, ‘भगवन्! यह दिव्य दृष्टि वापस लो। मैं कृतकृत्य हो चुका, अब मुझे और कुछ नहीं चाहिए।’

यही इस सारी कथा का रहस्य है, न कि इसका शाब्दिक अर्थ।

कर्ण ने कहा—“यह युद्ध एक यज्ञ है !”

इस बीच एक ऐसी घटना घटी, जो कर्ण के असली रूप पर प्रकाश डालती है। दुर्योधन की संगत में बैठने से महाभारत में कर्ण इतना बदनाम हो गया है कि आम पाठक भी उसे दुःशासन या शकुनि की तरह ही एक दुष्ट और धूर्त व्यक्ति समझते हैं। पर व्यासजी ने ऐसा पक्षपात दिखाकर कर्ण के साथ अन्याय नहीं किया। उन्होंने कर्ण के असली रूप को दिखाकर यह भी बता दिया कि यद्यपि वह दुर्योधन के साथ था, बोलचाल में भी उसने समय-समय पर असीहिष्णुता दिखायी, पर था वह एक महान् पुरुष। धर्म और उदारता में उसका कोई सानो नहीं था। सिवा दुर्योधन की मंत्री के उसमें और कोई दुर्गुण नहीं था।

घटना इस प्रकार घटी। दुर्योधन की सभा से निकलकर कृष्ण जब उपप्लव्य जाने लगे, तो कर्ण को उन्होंने अपने रथ पर बैठा लिया और सात्यकि को भी साथ ले लिया। बिना किसी हिचकिचाहट के कर्ण भी रथ पर कृष्ण के साथ बैठ गया। यह कर्ण की महानता का ही द्योतक है।

कृष्ण ने रथ को हाँककर एक निर्जन स्थान पर जाकर खड़ा कर दिया। वहाँ रथ से उतरकर सात्यकि को तो रथ में ही छोड़ दिया, और स्वयं कर्ण का हाथ पकड़कर पैदल ही कुछ दूर दोनों चले गये। वहाँ रुकांत में बैठकर अचानक कृष्ण ने वार्तालाप आरंभ किया—“कर्ण, तुम एक सज्जन पुरुष हो। सत्य-धर्म में तुम्हारी पूरी आस्था है, फिर क्यों तुम इस पापी दुर्योधन को सहायता देते हो ?

“वेद वेदांग तुम पढ़े हो, शास्त्रों का स्वाध्याय करके तुमने धर्म का तत्त्व जाना है, फिर इस पाप-कर्म में तुम दुर्योधन के साझेदार क्यों बन रहे हो ?”

कर्ण ने कुछ मंद हास्य के साथ कृष्ण से कहा, “कृष्ण,

तुम सच कहते हो। धर्मात्मा पुरुष को पाप में कभी भी शरीक नहीं होना चाहिये, पर मेरी स्थिति कुछ भिन्न है। दुर्योधन के प्रति मेरा पक्षपात इतना प्रबल है कि मैं उसके दोषों पर दृष्टि डालता ही नहीं। वह मेरा परम मित्र है। लोग जब मुझे सूतपुत्र कहकर मेरा तिरस्कार करते थे, कोई भी मेरा सत्कार नहीं करता था, उस अवसर पर दुर्योधन ही एक व्यक्ति था, जो इस दर्मावना से वंचित था। मैं तुम्हें सारी घटना सुनाता हूँ, वह सुनो।

“बहुत अर्स पहिले मैं हस्तिनापुर उदरपूर्ति के लिए आया था। पांडव-पुत्रों ने द्रोण की अध्यापकी में शास्त्र-विद्या समाप्त की थी। द्रोण ने सूतपुत्र कहकर मुझे धर्मावस्था सिखाने से इन्कार कर दिया था। बाद में यह विद्या मैंने भार्गव से सीखी। पर भार्गव ने भी जब जाना कि मैं सूतपुत्र हूँ, तो मुझे भ्राप दे दिया। खैर, मैं जब आया, उस समय शिक्षा समाप्त करके सभी पांडव रंगमंच पर अपना-अपना कला-कौशल दिखाने का आयोजन कर रहे थे। मुझे इससे कोई लेना-देना नहीं था। पर अर्जुन का अभिमान देखकर उसको चुनौती देने की मेरे मन में एक लहर उठ खड़ी हुई, जिसको मैं रोक नहीं सका। मैंने अर्जुन को चुनौती तो दी, पर मुझे सूतपुत्र कहकर मेरी यह चुनौती अस्वीकार की गयी। इस तरह मेरा फिर तिरस्कार हुआ। मुझे अत्यंत क्लेश हुआ।

“ऐसे अवसर पर दुर्योधन ही एकमात्र ऐसा व्यक्ति था, जिसने मेरा पक्ष लेकर मुझे अंगदेश का राजा बना दिया। अब अनेक काल बीत चुके, पर फिर भी मैं इस उपकार को भूल नहीं सकता। मेरे इस ससार में दो ही हितंशी हैं। एक तो मेरी माँ राधा और दूसरा दुर्योधन। मुझे

इस जीवन से कोई मोह नहीं है। कोई रस नहीं है। पर जब तक मैं जिंदा हूँ, तब तक मेरा जीवन राधा और दुर्योधन इन दो के ही हाथों में है।”

कर्ण का यह संभाषण सुनकर कृष्ण एक क्षण के लिए मौन रहे, फिर कहने लगे, “सही है कर्ण, उपकार का अण चुकाना अत्यंत कठिन कार्य है। पर तुम्हारे जन्म के संबंध में तुम्हें कुछ कल्पना भी है? तुम अपनी माँ को जानते हो?” कर्ण ने सिर हिलाकर कहा, “विशेष नहीं जानता, पर मेरा अनुमान है कि मैं किसी प्रतिष्ठित कुलवती कुमारी का पुत्र हूँ। शायद वह किसी बड़े प्रासाद में रहती थी। शायद उसका वह भवन नदी के तट पर ही था। संभवतः इस कुमारी को अपनी प्रतिष्ठा का अधिक खयाल था बनिस्बत अपने नवजात शिशु के। जन्म होते ही उसने मुझे एक पिटारी में बंद करके नदी में बहा दिया, ऐसा लगता है।

“राधा ने उस पिटारी को उठाकर मुझे निकाला और मेरा पालन-पोषण किया। मेरी असली माँ ने कभी मेरी चिंता नहीं की। इसलिए वह कौन है इसे जानने को मैं भी उत्सुक नहीं हूँ। वह मुझे भूल गयी। मुझे भी इस जानकारी से अब क्या लाभ होगा।” कर्ण कुछ क्षण के लिए चुप रहा, फिर कहने लगा, “कृष्ण, मुझे इस घटना का कोई खेद नहीं है। मेरी वर्तमान माँ राधा आज मेरे लिए सर्वस्व है। उसको मेरा अभिमान है। मेरा अतीत अब कालग्रास्त हो गया। मैं इसे भूल गया हूँ। हमें इस विषय पर अब अधिक संभाषण भी क्यों करना चाहिए।”

कृष्ण का चेहरा प्रफुल्लित था। वह कर्ण की तरफ बड़े स्नेह और सहानुभूति से देखने लगे। कृष्ण की आँखों में अश्रु थे। उनका संभाषण मृदु था। “कर्ण, यह सच है। तुम्हारी माँ एक कुलीन वंश की राजकुन्या हैं। तुम्हारे जनमते ही लोक-निंदा के भय से उसने तुम्हें बाध्य होकर त्याग तो दिया, पर वह तुम्हें भूल नहीं गयी। वर्तमान में

उसे एक से अधिक पुत्र हैं, तो भी वह तुम्हें याद करती ही रहती है। उसके हृदय में पीड़ा है।”

कर्ण सुनकर आश्चर्य से चकित हो गया। “कृष्ण, इसका अर्थ यह है कि मैं सूतपुत्र नहीं, बल्कि क्षत्रिय हूँ—क्या यह सत्य है? तुम ऐसी बात करते हो मानो तुम मेरी माता को जानते हो। तो क्या वह जीवित है? क्या मैं उसके दर्शन कर सकता हूँ? मुझे सारी बात बताओ। मैं बड़ा उत्सुक हूँ। मुझे इस असमंजस में मत रखो।”

कृष्ण ने कर्ण का हाथ पकड़कर कहा, “कर्ण, जरा सुचित्त होकर बैठो। हकीकत सुनने के लिए तैयार हो जाओ। तुम्हारी माँ के पाँच पुत्र हैं। वे ऐसे वीर हैं कि उनकी बराबरी का पृथ्वी पर कोई नहीं है।” कर्ण की साँसों की गति बद गयी—“पाँच पुत्र और बड़े वीर, क्या वे पांडव हैं?” कर्ण का सारा शरीर भावना के उद्वेग से काँप रहा था। कृष्ण ने धीरे-धीरे कहा, “हाँ कर्ण, वे पाँचों पांडव तुम्हारे भाई हैं। कुन्ती तुम्हारी माँ हैं। तुम सबसे ज्येष्ठ हो। तुम्हारा जन्म कुन्ती की कोख से हुआ, तब वह अविवाहित थी।” “कृष्ण, तो मेरा बाप कौन है?” कृष्ण ने कहा, “जिस देवता की तुम रोज पूजा करते हो और जो तुम्हारा इष्टदेव है, वह सूर्य ही तुम्हारा पिता है।” कर्ण यह सुनकर बेहोश होकर गिर पड़ा।

कुछ समय व्यतीत होने पर उसे चेतन्य आया। वह आर्द्र होकर कहने लगा, “कृष्ण, मैं हतभाग्य हूँ। सूर्य मेरा पिता, कुन्ती मेरी माता, पांडवों में धर्ममूर्ति युधिष्ठिर, प्रचंड भीम, वीर अर्जुन, सुंदर नकुल, बुद्धिमान सहदेव यह पाँचों मेरे भाता हैं। तब भी मैं इतने काल तक सूतपुत्र ही कहलाता रहा। भार्गव को तो अंतर्दृष्टि से यह जानना चाहिए था।” उसकी आँखों से अश्रु-धारा बहने लगी। कृष्ण और कर्ण कुछ क्षण तक मौन होकर बैठे रहे, फिर कर्ण अपनी आँखें पोंछकर कहने लगा, “कृष्ण, तुम तो इस भेद को जानते

थे। अब तक इसे छुपाया, तो आज ही यह भेद क्यों खोला ? मेरे लिए तो यह भ्रमान ही सुखप्रद था। मैं कई वर्षों से अपनी माता के बारे में जानना चाहता था, अब तुमने यह बता दिया। पर क्यों बताया ? पांडवों से बँर करने में मुझे प्रसन्नता होती थी। अब यह सारा भेद जानकर मेरा मानसिक संतुलन हिल रहा है।”

कृष्ण के हृदय में दया उभल रही थी। उन्होंने कहा, “करा, मैं तुम्हें मृत्यु-मुख से बचाना चाहता था। तुम धर्म के ज्ञाता हो। कुमारी कन्या की संतान विवाह होने के पश्चात् पति ही की संतान हो जाती है। इस न्याय से तुम पांडव की ज्येष्ठ संतान हो। तुम स्वयं पांडव हो। तुम वृष्णि-वंश के परिवार में भी हो। अब तुम मेरे साथ चलो। हम दोनों युधिष्ठिर के पास चले। तुम्हारे सब भाई तुम्हारे पाँव पड़ेगे। तुम्हें राज्य सिंहासन पर बैठाकर तुम्हारी पूजा करेंगे। तुम राजा और युधिष्ठिर युवराज होगा। पाँचों पांडव तुम्हारे दास बनकर तुम्हारी आज्ञा का पालन करेंगे। प्रिय करा, तुम वीर हो, धर्मात्मा हो, तुम्हारे दुर्दिन अब समाप्त हो चले। मेरे साथ चलो और संसार का आधिपत्य स्वीकार करो। पाँचों भाइयों और तुम्हारी माता को तुम्हें पाकर अत्यंत सुख मिलेगा। आओ, हम चले।”

करा ने सब सुना। पर उसका मन डाँवाँडोल था। कहने लगा, “कृष्ण, तुमने प्रेम से मुझे सब सुनाया। मैं पांडव हूँ। कुती-पुत्र हूँ, सूर्य का पुत्र हूँ, पर मेरी माता ने तो मुझे त्याग दिया। मुझे जीवनदान देनेवाली और पालनेवाली तो राधा ही है। अधिरथ को मैंने बाप माना। अब यह संबध-विच्छेद करना मेरे लिए दुष्कर है। दुर्योधन से मेरी मैत्री है। मैंने प्रतिज्ञा ली है कि मैं उसके पक्ष में अर्जुन से अंत तक लड़ूंगा। इस प्रतिज्ञा को मैं कैसे भूल सकता हूँ ? तुमने मुझ पर अत्यंत स्नेह दिखाया। पर मैं लोभ में नहीं आऊँगा। यदि मैं अपनी प्रतिज्ञा भंग करूँ, तो मेरे यश की समाप्ति

होगी। पांडवों के सिर पर तुम्हारा हाथ है, इसलिए विजय उन्हीं की निश्चित है। मेरी मृत्यु भी निश्चित है। पर उसमें भी मेरी कीर्ति बढ़ेगी। मैं सारे जीवन में हतभाग्य रहा। अब एक ही मेरी अभिलाषा है कि मैं अर्जुन के साथ युद्ध करते मरूँ। यह अभिलाषा पूर्ण हो, ऐसा ही तुम्हारा आशीर्वाद मुझे चाहिए। अर्जुन मेरा अनुज है, यह जानते हुए मैं कैसे जी खोलकर उससे युद्ध करूँगा ? पर फिर भी मैं युद्ध तो करूँगा ही।

“पर इस भेद को खोलकर तुमने मेरा उत्साह डीला कर दिया है। तुमने मुझे यह रहस्य क्यों बताया ?”

कृष्ण का दाहिना हाथ पकड़कर करा ने आगे कहा, “कृष्ण, तुम मुझे वचन दो कि इस भेद को अब अपने ही तक रखोगे, किसी को भी नहीं बताओगे। यदि धर्मात्मा युधिष्ठिर को यह पता लग जाये कि मैं उसका ज्येष्ठ भ्राता हूँ तो वह फिर किसी भी हालत में राज्य स्वीकार नहीं करेगा। वह धर्मात्मा है। राजा तो युधिष्ठिर ही बनेगा। तुम उसके सहायक हो। भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव सभी वीर हैं। इसलिए युधिष्ठिर की विजय निश्चित है।

“हमारा पक्ष तो निष्प्राण ही समझो। पर अस्ताचलगामी सूर्य भी इंद्रधनुष पँदा करके आकाश में एक सौंदर्य पँदा कर देता है। मुझे तो मरना ही है। मेरी मृत्यु निश्चित है, और मुझे इसका कोई खेद नहीं है। पर यह संभव है कि ये मेरे दुःख के आँसू गिरकर मेरे विफल और सूखे जीवन में भी एक इंद्रधनुष बनकर मुझे थोड़ी-सी सांत्वना दे डाले। खैर, चलो कृष्ण, अब तुम्हारा-हमारा संपर्क हो चुका। अब यह समाप्त होता है। अब तो युद्ध-क्षेत्र में ही हम फिर मिलेंगे।”

कुछ रुककर उसने फिर कहा, “मेरी मृत्यु और पांडवों की विजय निश्चित है। यह युद्ध एक यज्ञ है। भीष्म, द्रोण और सारे कौरव इस यज्ञ में भस्मीभूत हो जानेवाले हैं। मैं

इस युद्ध का शीघ्र ही अंत देखना चाहता हूँ। मैं जीवन से ऊब गया हूँ। स्वर्ग में पहुँचने की मुझे अत्यंत उत्कंठा है। मुझमें अब धैर्य नहीं है। कृष्ण, मैं तुम्हें स्वर्ग में ही मिलूंगा। अपने भाइयों, अपने पिता और अपनी माता से भी वही मिलूंगा। कृष्ण, नमस्कार।” यह कहकर कर्ण ने कृष्ण को हृदय से लगाया और स्वयं वापस रथ में आकर बैठ गया।

कर्ण तो चला गया और कृष्ण भी युधिष्ठिर के पास चले गये। पर यह किस्सा यहीं समाप्त नहीं हुआ।

विदुर ने कौरव-राजसभा में क्या-क्या हुआ वह सारी घटना कुंती को जाकर सुनायी। युधिष्ठिर शांति चाहता था,

पर दुर्योधन के हठ के कारण युद्ध करना ही निश्चय हुआ।

यह सब विवरण सुनकर कुंती अत्यंत चिंतित हो गयी। कौरव-सेना में भीष्म और द्रोण-जैसे प्रबल योद्धा हैं, उनको सामान्य वीर समझना भारी भूल होगी। वह जानती थी कि कर्ण भी उसी का पुत्र है। वह अर्जुन का वध कर सकता है। पर यदि कर्ण मारा जाये तो वह भी मेरा ही पुत्र है। दोनों ओर क्षति है। क्यों न मैं स्वयं ही कर्ण से मिलूँ, और उसे बताऊँ कि मैं कौन हूँ? क्यों न मैं उसे युधिष्ठिर के पक्ष में लाने का प्रयत्न करूँ? उससे मैं वर मागूँ तो वह अस्वीकार नहीं करेगा, क्योंकि वह बड़ा दानी है। यह निर्णय करके कुंती ने कर्ण से मिलने का निश्चय कर लिया।

कुन्ती-कर्ण संवाद

कर्ण मध्याह्न-काल में गंगा-तट पर नित्य सूर्य की पूजा किया करता था। कुन्ती अकेली ही गंगा-तट पर उसी समय पहुँची, जबकि कर्ण पूजा में संलग्न था। कर्ण अपनी भुजाओं को उठाकर आँखें मूंदकर सूर्य की ओर दृष्टि स्थिर करके सूर्योपासना में मानो समाधिस्थ था। कुन्ती कर्ण के पीछे जा खड़ी हुई। कठिन ताप से उत्तापित सूर्य के तपन से रक्षा करने के लिए उसने कर्ण के ही उत्तरीय वस्त्र से अपना मुँह ढाँक लिया, और खड़ी रही।

कर्ण की पूजा समाप्त हुई, और जब मुड़कर देखा तो उसने एक देवी को उपस्थित पाया, जो धूप से अपनी रक्षा के लिए उसी के उत्तरीय से अपना मुँह ढके थी। उसे आश्चर्य हुआ।

उसने कुन्ती को प्रेम से छाया में बैठाया, और नमस्कार करके कहा, “देवी, मैं कर्ण हूँ। तुम ऐसे कुल की देवी प्रतीत होती हो, जो शारीरिक क्लेशों की अभ्यस्त नहीं है। जो भी हो कहो, तुम क्या चाहती हो?”

“मैं सूर्योपासना के पश्चात् दान देता हूँ, इसलिए कहो मैं तुम्हें क्या दूँ?” कुन्ती ने जिस दिन कर्ण को पिटारी में बंद करके नदी में बहा दिया था उसके पश्चात् यह पहला ही अवसर था, जबकि फिर से उसने अपने पुत्र को देखा। कुन्ती की प्राचीन स्मृति जागृत हो आयी। सारा का सारा दृश्य उसकी आँखों के सामने नाचने लगा।

जब पिटारी में रखकर कुन्ती ने कर्ण को नदी के प्रवाह में बहाया था, तब उसने कर्ण की कुशलज्ञेय मानो ईश्वर और देवताओं के सुपुर्द कर दी थी। जल-प्रवाह में छोड़ते समय जो शुभ-कामना और आशीर्वाद कुन्ती ने दिया था वह वर्णन अत्यंत ही रोमांचकारी है।

“शिवास्ते सन्तु पंधानो मा च ते परिपथिनो ।
आगताश्च तथापुत्र भवन्त्व द्रोहचेतसः
पातु त्वां वरुणो राजा सलिले सलिलेश्वरः
अंतरिक्षेऽतरिक्षस्थः पवन सर्वगस्तथा ।
धन्या सा प्रमदा यात्वां पुत्रत्वे कल्पयिष्यति ।
धन्यास्त्वं तृषितः पुत्र स्तनं पास्यसि देवत्र ।”

पुत्र, वरुण और पवन सब तुम्हारी रक्षा करें। जो प्रमदा तुम्हें स्तनपान करायेगी वह धन्य है। इस आशीर्वाद के साथ कर्ण को देवताओं की संरक्षता में छोड़कर कुन्ती निश्चित हुई।

कुन्ती ने कर्ण को जो शुभकामना और आशीष दी वह सफल हुई। ईश्वर ने प्रार्थना को स्वीकार किया, और राधा उसको माता के रूप में प्राप्त हुई।

कर्ण को बहा देने के बाद की घटना के संबंध में कुन्ती नितांत अनभिज्ञ थी। पर कर्ण को देखने के बाद वह इतना तो जान सकी कि वह उसी का पुत्र है।

कुन्ती क्या कहती है यह सुनने के लिए कर्ण धीरे के साथ मौन होकर खड़ा रहा। अंत में कुन्ती ने कहा, “तुम मुझसे परिचित हो या नहीं यह मैं नहीं जानती, पर मैं एक भिक्षा माँगने आयी हूँ।” कर्ण ने कहा, “देवी, मैं तुम्हें जानता तो नहीं, पर मेरी ऐसी भावना है कि तुम परिचित हो। मुझे लगता है कि मैंने तुम्हें कभी देखा है। तुम्हारी आकृति, तुम्हारे अंग, तुम्हारी वाचा सब मुझे जानी-पहचानी-सी दीख पड़ती है। मैं स्मरण करने का प्रयत्न करता हूँ कि मैंने तुम्हें कहाँ देखा है।” अचानक कर्ण ने जोर से कहा, “हाँ, अब याद आ गया, तुम मेरे स्वप्न की देवी हो। तुम निश्चय वही हो।”

कुन्ती ने मंद हास्य से कहा, “मुझे सुनाओ स्वप्न की देवी से तुम्हारा क्या तात्पर्य है। मैं बैठ जाती हूँ। मुझे कोई शीघ्रता नहीं है। मैं कुछ काल तुम्हारे साथ व्यतीत करने ही आयी हूँ।”

कर्ण ने कहा, “यह परम आश्चर्य है कि अपने इस स्वप्न की कथा मैंने अपनी माँ राधा को छोड़कर और किसी से आज तक नहीं कही, फिर भी मैं तुम्हें सारी बात खोलकर कहूँगा। पता नहीं, तुम जानती हो या नहीं पर मेरा नाम राधेय है। मेरी माँ का नाम राधा है, पर वह मेरी असली माँ नहीं है। मेरे पिता अधिरथ ने मुझे गंगा में बहता हुआ पाया। इस अधिरथ ने मुझे अपनी पत्नी राधा को सौंप दिया। उसी को मैंने माता माना और अधिरथ को पिता, और अपना नाम राधेय रखा।

“मुझे दुःख है कि मेरी असली माँ ने मुझे जनमते ही त्याग दिया। शायद इसी के फलस्वरूप मेरी गाढ़ निद्रा को यह स्वप्न द्वारा भंग करती रही है। यह स्वप्न बार-बार एक ही जैसा आता रहा है। स्वप्न में मुझे एक देवी दिखायी पड़ती थी। उसकी वेशभूषा एक राजकुमारी की सी बहुमूल्य रहती थी। पर अपना मुँह वह अपने आँचल से सदा ही ढका हुआ रखती थी। मैं सोता रहता था, तो वह बराबर भुक्ककर मेरी तरफ टकटकी लगाकर देखती रहती थी। उसके उष्ण अभ्रु मुझ पर पड़-पड़कर मुझे तपाते थे। बीच-बीच में मैं उठकर उससे पूछता था, ‘देवी, तुम कौन हो? क्यों रोती हो?’ तो अवरुद्ध कंठ से वह कहती, ‘मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया, इसलिए रोती हूँ। मैं तुम्हें अपना बनाना चाहती हूँ। पर तुम सदा के लिए मुझसे बिछुड़ गये। मैं इसीलिए विलाप करती हूँ। मैं तुमसे केवल स्वप्न में ही मिल सकती हूँ। चाहे वह स्वप्न तुम्हारा हो या मेरा। केवल इसी से मेरे हृदय की जलन मिटती है।’

“फिर वह अंतर्ध्यान हो जाती थी। मैं कहता, ‘देवी,

अपना मुखारविंद तो मुझे दिखाओ’ पर वह अदृश्य हो जाती थी। धीरे-धीरे काल व्यतीत होने लगा। उसके बाद जो था वह भी समाप्त हो चला। अब बहुत काल से वह मेरे स्वप्न में नहीं आयी। संभव है, उसको और कोई संतान हो गयी हो। मेरा अनुमान है कि वह स्वप्न-देवी मेरी माँ थी। पर अब उसने मेरा स्वप्न-संपर्क भी बंद कर दिया। जो हो, तुम्हारा रूप-रंग उसी स्वप्न-देवी का सा है। अब मुझे बताओ, तुम कौन हो?”

कुन्ती का सिर झुक गया। वह निश्चय नहीं कर सकी कि क्या उत्तर दे। कठोर हृदय करके अंत में उसने कहा, “तुम सत्य समझे हो। तुम्हारी वह स्वप्न की देवी मैं ही हूँ—कुन्ती, पांडवों की माँ। मैं तुम्हारी भी माता हूँ। तुम मेरे सबसे ज्येष्ठ पुत्र हो।”

कर्ण कहने लगा, “कुन्ती, पांडवों की माता, और फिर अपने पुत्र राधेय के पास वरदान माँगने आती है। क्या मैं ज्ञात हूँ? और मेरी स्वप्न-देवी फिर से मेरे सामने उपस्थित है?” वह कुन्ती की ओर देखने लगा और कुन्ती कर्ण की ओर। एक क्षण भी नहीं बीता और दोनों एक दूसरे के बाहुपाश में दृढ़ता से बद्ध हो गये। कर्ण कहने लगा, “माँ, अंत में तुम आ ही गयीं। माता, तुम्हें पता नहीं इस अवसर की मैं कितनी प्रतीक्षा कर रहा था। मैं चाहता हूँ कि तुम जान जाओ कि इस क्षण की प्रतीक्षा के मैंने कितने स्वप्न देखे। मैंने तुम्हारा बार-बार चित्रन किया है, हालाँकि तुमने मुझे इतना स्मरण नहीं किया होगा।

“स्वप्न में मैंने कितना चाहा कि तुम्हारे आँचल को उठाकर तुम्हारे मुख का तो मैं दर्शन करूँ। माता, तुमने मुझे जन्म दिया। फिर इतने लंबे अर्से तक क्यों तुम मुझसे दूर रही। तुमने दूर रहकर मुझे क्यों दुःखी बनाया। मैंने माँगा भी तो क्या माँगा। महज यही कि तुम्हारा दर्शन हो। खैर, अब तो तुम आ गयीं और तुमने अपना पुत्र मुझको

स्वीकार कर लिया। मुझे इससे एक महान् सुख और शांति मिली है।”

कुन्ती की चकित आँखें कर्ण की ओर फिरीं। कर्ण स्मित-मुख से फिर कहने लगा, “माँ, अब मैं जान गया कि मैं कौन हूँ। मैं तुम्हारा पुत्र और सूर्य की संतान। तुमने लज्जावश मुझे गंगा में बहा दिया।” कुन्ती आश्चर्यचकित होकर कहने लगी, “पुत्र, मुझे कल्पना भी नहीं थी कि तुम यह भेद जानते हो। पर तुमको यह सब मर्म मिला कैसे? और तुम्हें पता लग गया तो फिर मेरे पास क्यों नहीं आये? मेरे आने की प्रतीक्षा में तुम क्यों रुक रहे?”

कर्ण ने कहा, “माँ, मुझे कल ही श्रीकृष्ण ने यह सब रहस्य सुनाया है। पर इस चर्चा को छोड़ो। माता, यहाँ आकर बैठो और मुझसे बातें करो। मेरा यह सुख अधिक काल तक नहीं टिक सकेगा। इसलिए इस सुख के पात्र की अंतिम बुँद तक मुझे पाने दो। अपना हाथ तुम्हारी गोद में रखकर मुझे माता का सुख पाने दो। मेरे शब्द बेकार हैं। मौन रहकर ही मैं सुख-पान करता रहूँगा।”

कुन्ती ने खोया हुआ पुत्र पाया और कर्ण ने विस्मृत माता को पाया, इस बात से दोनों अत्यंत प्रसन्न थे।

सहसा कर्ण उठ खड़ा हुआ और कहने लगा, “माँ, तुम आ गयीं इसके लिए मैं तुम्हारा अत्यंत कृतज्ञ हूँ। मुझे पता नहीं, यह मेरा सुख कब तक टिकेगा। कुछ क्षणों तक या कुछ घण्टियों तक। पर इस शांत स्वप्न से मुझे जाग्रत होना ही होगा। अब कहो माता, तुम क्यों आयी हो?”

“कर्ण, तुम अपने-आपको राधेय कहना छोड़ो। अब से तुम कौंतेय हो। तुम मेरे पुत्र हो। अब पाँच नहीं, मेरे छः पुत्र हो गये। मैं अत्यंत सुखी हो गयी।”

कर्ण की आँखें आँसुओं से भर गयीं। वह कहने लगा, “माँ, ओ माँ, तुम क्यों आयी और मुझे यह सब इतिहास

क्यों बताया? तुम जानती हो कि मैं अपने-आपको कौंतेय कहने के लिए कितना लालायित हूँ। मुझे तुम्हारा और सूर्य का पुत्र होने का अभिमान है। पर मुझे तो राधेय ही रहना पड़ेगा। माता, तुम देख नहीं सकतीं मैं कितना दुःखी हूँ, पर ईश्वर की इच्छा यही है। तुम कुछ माँगने आयी थी। कहो, मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ?”

कुन्ती कुछ देर चुप रही, फिर अपने आँसू पोछकर बोली, “पुत्र तुमने अनेक अपमान सहें, क्योंकि संसार को पता नहीं था कि तुम कुन्ती और सूर्य के पुत्र हो। अब इस अमावस्या की कालरात्रि का अंत हो गया है। बिना जाने कि तुम पाँचों पांडवों के भाई हो, तुम उनसे बँर करते रहे। पर अब तुमको सब जानकारी हो गयी। अब यह उचित नहीं कि अपने भाइयों से तुम्हारी शत्रुता रहे। तुम मेरे साथ चलो। मैं पाँचों भाइयों के पास तुम्हें ले चलती हूँ। तुम अब संसार के स्वामी बनकर राज भोगो। तुम्हारे भाई तुम्हारी वंदना और पूजा करेंगे। तुम्हें शांति मिलेगी। दुर्योधन का कुसंग छोड़कर मेरे साथ चलो। यही भीख माँगने तुम्हारे पास आयी है।”

कर्ण की आँखों के आँसू बाहर नहीं निकले और कुन्ती की ओर देखकर उसने कहा, “माता, दो दिन के भीतर ही दो महान् आत्माओं ने मुझे संसार का साम्राज्य अर्पण करने का प्रस्ताव किया है। मुझे यह भी लोभ दिया है कि मैं यदि यह प्रस्ताव स्वीकार करूँ, तो युधिष्ठिर मेरा दास बनकर मेरी सेवा करेगा। विधि की गति विचित्र है। मुझे इस प्रस्ताव पर सोचने का भी अवसर नहीं मिला है। पर माता, यह तो बताओ कि मैं तुम्हारी बात मानकर तुम्हारे साथ चलूँ तो इसका परिणाम क्या होगा?”

“परिणाम क्या?” कुन्ती ने कहा, “तुम सब एक ही जाओगे। अर्जुन तुम्हारा सेवक होगा। तुम पांडवों की सहायता से सारे विश्व का साम्राज्य भोगोगे। बलराम और

कृष्ण दोनों का तुम्हें आशीर्वाद मिलेगा। तुम सूतपुत्र न कहलाकर पांडव कहलाओगे।” तभी स्वर्ग से एक वारणी गुँज उठी। यह सूर्य की वारणी थी। उसने कहा, “पुत्र, कृती का प्रस्ताव शुभ है, उसे मान लो।” कर्ण ने सुना, पर उस पर कोई असर नहीं हुआ।

कुछ देर तक वह अपनी माता की ओर देखता रहा। अंत में उसने मौन तोड़कर कहा, “माता, तुम्हें पता नहीं मैं तुमसे कितना क्रुद्ध हूँ। यह क्रोध मेरी उस अज्ञात माता के प्रति था, जो मेरे पास स्वप्न में आती थी। यह क्रोध तुम्हारे प्रति नहीं था। क्योंकि उस अज्ञात माता के कारण मुझे यह सारा अपमान सहन करना पड़ा। मेरा नाम, मेरा सम्मान, मेरा जीवन सारा कलुषित बन गया। हजारों प्रश्न मेरे मन में उठते थे, जिन्हें अभिव्यक्त करके मैं अपनी कटुता को कम करना चाहता था। पर तुम्हें देखते ही मेरा वह क्रोध ऐसे लुप्त हो गया, जैसे मरुभूमि पर हिम नहीं टिक सकता। अब मैं तुम्हारे दुलार के लिए लालायित हूँ। राधा मुझे प्रिय है, पर तुम्हारे सामने वह प्रेम भी ढीला पड़ रहा है। मेरा हृदय भी भाइयों के प्रेम से उभल रहा है। माता का दुलार दुर्लभ है। तुम्हारा यह प्रेम हृदय में समा नहीं रहा है।” यह कहकर उसने एक बार फिर पुत्र को दृढ़ आत्मनिष्ठता में कस लिया। माता और पुत्र का यह प्रेम देखकर सूर्य को प्रसन्नता हुई।

कुछ देर बाद कुन्ती ने फिर कहा, “तो पुत्र, चलो और अपने भाइयों से मिलो।” पर कर्ण बुरी तरह दुःखी था। उसने विलपते हुए कहा, “ना माता, यह असंभव है।” कुन्ती को आश्चर्य हुआ, “क्यों पुत्र, क्यों असंभव है? क्यों हिचकते हो?” कर्ण ने कहा, “माता, मैं किसी भी हालत में अब दुर्योधन को नहीं छोड़ सकता। मैं वचनबद्ध हूँ। माता, इतने काल तक मैं सूतपुत्र था, तुमने मुझे त्याग दिया, मेरा कहीं भी सम्मान नहीं था। उस दुष्कर समय में

केवल एक दुर्योधन ने ही मुझे आश्रय दिया। द्रोण ने मेरा तिरस्कार किया। भागव ने भी वही किया। रंगमंच पर अर्जुन को स्पर्धा में वारा-कौशल दिखाने के लिए मैं हस्तिनापुर आया, तो वहाँ भी मेरा अपमान हुआ। तुम वहाँ थीं। तुमने मुझे अवश्य पहचाना भी होगा। पर मुझे तुम्हारी ओर से भी कोई सहारा नहीं मिला। पुरानी बातें कहकर मैं अब तुम्हारे मन को दुःखित नहीं करना चाहता, पर जब सब कोई सूतपुत्र का तिरस्कार करते थे, तब केवल एक दुर्योधन ही था, जिसने मेरा स्वागत किया। उसे छोड़ना अब अधर्म है। माता, मेरे हृदय में एक तूफान उठ रहा है। आज तक दुर्योधन को छोड़कर मुझे कोई सहारा नहीं था। पर अब तुम्हारा वात्सल्य है। भाइयों का आकर्षण है। मेरा हृदय इस प्रेम के दबाव से फटा जा रहा है। भाइयों और माता का प्रेम-पात्र बनने के लिए मैं सब कुछ करने को तैयार हूँ, पर फिर भी दुर्योधन को छोड़ने को तैयार नहीं हूँ। दुर्योधन का मेरे ऊपर आराधना है। यह प्रेम का और उपकार का अण है, जिसने लोह-भ्रंशलाओ से मुझे बाँध रखा है। मैं अपना कर्तव्य कैसे भूलूँ? तुम आर्यी, इसलिए इन सारी बातों को मुझे भूलना पड़ेगा। पर कर्तव्य को मैं नहीं भूल सकता। माता, मेरा मन या यह शरीर यह मेरा नहीं है। यह सब दुर्योधन को मैंने अर्पण कर दिया है। माता, मेरा अंत आ गया। इस अंत-काल में मेरा रहा-सहा जो यश है उसको मैं कैसे खो बैटूँ। मैं और मेरे सब साथी दुर्योधन-समेत सर्वनाश के मुख में प्रवेश कर रहे हैं। यह सब मरेगा। पांडवों का बाल भी बाँका नहीं हो सकता। उनके सहायक स्वयं कृष्ण हैं। इसलिए उन सबकी तुम चिंता छोड़ो। मेरे कवच-कुंडल, जिन्होंने मुझे अमरत्व दे रखा था, वह भी इंद्र माँगकर ले गया। मैं जब सूर्यपासना करता हूँ तब जो भी मुझसे कोई माँगे, उसे मैं ना नहीं कहता। तुमने भी मुझसे कुछ माँगा है, वह मैं नहीं दे सका इसका

मुझे अत्यंत दुःख है। फिर भी मैं तुम्हें रोते हाथ नहीं भेजूंगा। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अर्जुन को छोड़कर अपने किसी भी भाई का मैं वध नहीं करूँगा। अर्जुन से तो मैं युद्ध अवश्य करूँगा। पर मैं ही उसके हाथ से मरूँगा। सो मैं, निश्चित होकर जाओ। तुम्हारे पाँच पुत्र हैं। वे पाँच ही रहेंगे। अर्जुन मारा गया, तो मैं मारा जाऊँगा। सो पाँच ही रहेंगे। मैं मर गया तो भी पाँच ही रहेंगे। पर अर्जुन की नहीं, मृत्यु तो मेरी ही होनेवाली है।

“माता, तुम हर हालत में पाँच पुत्रों की माता रहोगी। यदि कर्ण नहीं होगा तो अर्जुन होगा। अर्जुन नहीं होगा, तो कर्ण होगा। दो में एक तो जीवित रहेगा ही। अब माता, तुम घर जाओ और निश्चित रहो।” कुन्ती की रुदन के मारे घिघी बँध गयी। उसका सारा शरीर कंपावमान हो उठा। पुत्र मिला और खोया भी गया। कुन्ती का हृदय, जो पहले से रिक्त था, वह अब कहीं और रिक्त हो गया। विद्युत् की चमक जिस तरह अपने पीछे कहीं अधिक झंझकार छोड़ जाती है, उसी तरह पुत्र के सहवास में व्यतीत हुई कुछ घड़ियाँ कुन्ती के हृदय पर कहीं अधिक झंझकार छोड़ गयीं।

कर्ण ने अपनी माता के दुःख का अनुभव कर लिया। माता का गाढ़ झल्लिगन करके उसने कहा, “माता, जो विधि ने लिख दिया है उसको कोई नहीं मेट सकता। तुम्हारे अश्रु या मेरी प्रार्थना ईश्वर के रचे हुए मे कुछ परिवर्तन नहीं कर सकती। काल की गति मेटने का निरर्थक प्रयत्न मत करो। काल ने यह सारा क्रम तुम्हारा या मेरा जन्म हुआ उसके पहले ही रच दिया था। मुझे आशीर्वाद दो कि मैं शीघ्र ही स्वर्ग-आरोहण करूँ। अपने अश्रुओं से मेरे दुःख को धो डालो। मुझे लगेगा कि तुम्हारे अश्रु ही मेरे अभिषेक का स्नान था। तुम्हारे अश्रु गंगाजल से भी अधिक पवित्र हैं। मैं, जान्ना। चलो, हम दोनों अब कोई और स्वप्न देखेंगे।”

कुन्ती इतनी दुर्बल हो गयी कि कर्ण ने उसे उठाकर खड़ा किया। माता और पुत्र दोनों एक दूसरे से चिपट गये। अंत में कर्ण को अपने बाहु-बंधन से मुक्त करके वह धीरे-धीरे चल पड़ी। कुन्ती जब तक आँखों से मोमल नहीं हो गयी, तब तक कर्ण वहीं खड़ा-खड़ा उसकी ओर देखता ही रहा। यह बिचोह-दृश्य आकाश के देवताओं ने भी देखा। सबने विलाप किया।

कवच-कुण्डल के लिए इंद्र का ब्राह्मण-वेश

कर्ण जब कुन्ती से मिला तब, जैसा कि पहले कह आये हैं, उसने कुन्ती से कहा था कि मेरे कवच-कुण्डल चले जाने के बाद मेरा अमरत्व नष्ट हो गया है। पर यह कवच और कुण्डल कर्ण कैसे खो बैठा, यह कथा भी अत्यंत रोचक और प्रेरणापूर्ण है। इसलिए इसका उल्लेख आवश्यक है।

कर्ण सूर्य का पुत्र था और अर्जुन था इंद्र का पुत्र। सूर्य स्वभावतः कर्ण के पक्ष में था, और इंद्र अर्जुन की ओर था। इन दोनों को अपने-अपने प्रिय पात्रों के जीवन की चिंता थी। महाभारत-युद्ध के पहले से ही इंद्र को अर्जुन के जीवन की चिंता थी, क्योंकि वह जानता था कि कर्ण बलवान है और जब तक वह कवच और कुण्डल पहने रहेगा, उसके शरीर पर कोई विपत्ति या आघात निष्फल होगा। ऐसी स्थिति में कर्ण का पक्ष प्रबल और अर्जुन का निर्बल हो जाता है। पर इसी तरह सूर्य को यह चिंता थी कि कर्ण इन दोनों अमूल्य रक्षाओं को कहीं खो न बैठे।

अतः एक रात कर्ण जब गाढ़ निद्रा में था, सूर्य उसे सावधान करने के लिए ब्राह्मण का वेश धारण करके उसके स्वप्न में आया, और उसे दर्शन देकर कहने लगा, “राधेय, तुम रोज मध्याह्न में सूर्य की उपासना करते हो। उस समय जब भी कोई तुमसे दान माँगने आता है, तुम उसकी इच्छा पूर्ण करते हो और ‘ना’ नहीं कहते। इंद्र तुम्हारे इस स्वभाव को जानता है। वह अर्जुन का पक्षपाती है। इसलिए वह तुम्हारा कवच और कुण्डल छीनना चाहता है, जिससे कि अर्जुन का जीवन निर्भय बन जाये। इसलिए कल तुम्हारी उपासना के समय ब्राह्मण का वेश धारण करके इंद्र आयेगा, और तुमसे तुम्हारे कवच और कुण्डलों की भिक्षा माँगेगा। इनको दे देना तुम्हारे लिए अत्यंत घातक है। अतः तुम

इंद्र को चाहे सब कुछ देने को उद्यत हो जाना, पर भूलकर भी कवच-कुण्डल मत दे डालना। यह तुम्हारे जीवन और मरण का प्रश्न है। अतएव मैं तुम्हें सावधान करने के लिए उपस्थित हुआ हूँ।”

कर्ण ने कहा, “ब्राह्मण देवता, आप मेरे अत्यंत हितैषी प्रतीत होते हैं। पर आप अपना परिचय तो दीजिए कि क्यों आपको मेरी इतनी चिंता है।” सूर्य ने भेद खोलकर बता दिया कि वह कौन है। कर्ण ने कहा, “भगवन्, मैं बड़ा कृतज्ञ हूँ कि आपने मुझे सावधान किया, पर आप तो जानते ही हैं कि सूर्य-पूजा के पश्चात् जो भी मुझसे कुछ माँगता है, उसे मैं ना नहीं करता। मैंने जबसे यह दान का व्रत लिया है, तबसे मुझे अत्यंत सुख और शांति मिली है। मुझे देने में ही सुख है। यदि कोई मेरी अत्यंत प्रिय वस्तु माँगे, तो उसे देकर मुझे और भी अधिक प्रसन्नता होती है। यदि कोई मेरा प्राण भी माँगे, तो भी मैं ना नहीं कह सकता। इंद्र यदि मेरे पास कोई दान माँगता है, जिससे कि पांडवों का हित हो और मेरा अहित हो, तो भी मैं नट नहीं सकता। जीवन का मुझे कोई मोह नहीं है। मुझे तो अपना यश का ही मोह है। इसलिए ना करना मेरे लिए असंभव है। अपनी जीवन-रक्षा के लिए भी मैं अपना यश नहीं खोऊँगा। इंद्र को ना कहकर मैं चिरजीवी हो सकता हूँ, पर वह जीवन किस काम का, जबकि मेरा अपयश शाश्वत काल तक जीवित रहेगा। यश के नाश की अपेक्षा तो मेरे लिए मृत्यु ही भली है। अपयश के साथ जीवन उच्य है।

“मैं यह भी जानता हूँ कि पांडवों की विजय होगी। कौरवों का नाश विधि ने निश्चित कर दिया है। यह जानते हुए भी कि मेरा नाश अवश्यंभावी है, मैं अपने व्रत से क्यों हटूँ ?

“अपने जीवन से मुझे अपनी कीर्ति कहीं अधिक प्रिय है। कीर्ति ही सत्पुरुष का जीवन है। अपकीर्ति मृत्यु है। इस नाशवान शरीर की रक्षा के लिए कीर्ति गँवा देना और एक शाश्वत अपकीर्ति को मोलना यह निरी मूर्खता है। कीर्ति जीवन को शुद्ध करती है। अतः इसकी प्राप्ति के निमित्त लड़ते-लड़ते मर जाना ही मेरे लिए श्रेय है। इसलिए भगवन्, मैं आपका कृतज्ञ हूँ, पर पूरी शक्ति लगाकर युद्ध करना चाहता हूँ। इंद्र को मैं ना नहीं कहूँगा।”

सूर्य ने कहा, “पुत्र, तुम मुझे अत्यंत प्रिय हो, इसलिए मैं तुम्हारी रक्षा के निमित्त ही तुम्हें सावधान करने आया हूँ। तुम अपने, अपनी धर्मपत्नी के और अपनी सत्ता के सुख को तो देखो। तुम मर जाओगे, तो अपनी कीर्ति को सुनने या देखने कहाँ आओगे? तुम्हारी सबसे बड़ी कामना अर्जुन को पराजित करने की रही है। पर कवच-कुंडल दे डालने से तुम अर्जुन को पराजित नहीं कर सकते। कवच-कुंडल रहते ब्रह्मा, विष्णु भी तुमको पराजित नहीं कर सकते। ऐसी अमूल्य वस्तु को गँवा देना निरी मूर्खता है।”

कर्ण गद्गद होकर कहने लगा, “भगवन्, आपके स्नेह ने मुझे विह्वल कर दिया है। पर मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ कि आपकी आज्ञा का पालन नहीं कर सकता। मेरा व्रत अमिट है। मेरे प्राण जार्य पर मेरा व्रत अखंड रहेगा।”

सूर्य ने कहा, “पुत्र, तुम्हारी इस धर्म-भावना को देखकर मैं अत्यंत प्रसन्न हूँ। मुझे तुम्हारा अभिमान है।” यह कहकर सूर्य अंतर्धान हो गये।

दूसरे दिन कर्ण ने यथापूर्व सूर्य-पूजा आरंभ की। जब सूर्य मध्याह्न में आया, उस समय इंद्र ब्राह्मण बनकर पहुंच गया।

कर्ण ने उपस्थित होकर ब्राह्मण को नमस्कार करके कहा, “कहिए देवता, मैं आपकी क्या सेवा करूँ? मध्याह्न

के समय मेरी पूजा समाप्त होने पर जो भी कोई मुझसे दान माँगता है, उसको मैं ना नहीं कहता। उसकी इच्छा की पूर्ति करता हूँ। इसलिए आप कहिए, आपको क्या चाहिए।”

ब्राह्मण ने कहा, “राधेय, मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैं तो केवल तुम्हारे कवच और कुंडल माँगता हूँ।” कर्ण ने कहा, “ब्राह्मण, तुम्हारी यह माँग बड़ी अजीब है। कवच-कुंडल मेरे शरीर के साथ जुड़े हुए अंग हैं। उनको काटकर निकालना आसान नहीं है। कष्टप्रद भी है। और कुछ भी शस्त्र या अस्त्र अथवा तो सोना या चाँदी माँग लो, पर कवच-कुंडल मत माँगो।” ब्राह्मण ने कहा, “मुझे और कुछ नहीं चाहिए। यदि सचमुच तुम दानी और शूर हो तो यही दो वस्तुएँ मुझे दान में दो।” कर्ण हँसा और कहने लगा, “ब्राह्मण, इनकी चमक से तुम लुभा गये हो ऐसा लगता है। वास्तव में तो यह दोनों साधारण वस्तुएँ हैं, पर इनकी शक्ति मेरे लिए अमूल्य है। अमृत में डुबोकर यह दोनों कवच और कुंडल मेरे शरीर के साथ इस आशय से जोड़ दिये गये हैं कि जिससे यह मेरे जीवन की रक्षा करते रहे। आपके लिए तो इनका कोई महत्व नहीं है।

“और, मैंने अपने मित्र दुर्योधन से प्रतिज्ञा कर रखी है कि युद्ध में मैं अर्जुन को मारूँगा। इस प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए इन दोनों की मुझे अत्यंत आवश्यकता है। इसलिए आप इन्हें मत माँगिए।”

किंतु ब्राह्मण अपने हठ पर उटा रहा। तब कर्ण ने हँसकर कहा, “ब्राह्मण, मैं जानता हूँ, आप कौन हैं? आप इंद्र हैं। दानियों में बड़े दानी आप हैं। यह पृथ्वी आप ही के वर-दान से फलती और फूलती है। कहा गया है कि वर्षा की तरह आप देने में उदार हैं। स्वयं इतने बड़े दानी होकर भी आप मेरे पास दान माँगने आये, इससे आपने मुझे संकोच में डाल दिया है।

“आप जानते हैं कि इनको दे देने से मेरा कितना फ़ानिस्ट होगा। तो भी मैं आपको ना नहीं कहूँगा।” और यह कहकर कर्ण ने अपने शरीर को छेदकर कवच और कुण्डल अपने भ्रम से काटे और इंद्र के पैरों में रखकर कहा, “लीजिए देव, आपकी इच्छा पूर्ण हो।” कर्ण के मुख पर एक दैवी तेज प्रकाश दे रहा था। वह प्रसन्न था। प्रसन्नता के मारे वह इतना विह्वल हो गया कि आँखों से अश्रु-धारा बहने लगी। इंद्र भी रोने लगा। आकाश से देवताओं ने फूल बरसाये। इंद्र ने कहा, “कर्ण, तुम महात्मा हो। सूर्य ने तुमको सावधान किया, तो भी तुमने अपना व्रत नहीं तोड़ा। मैं तुमसे अत्यंत प्रसन्न हूँ। माँगो। मैं तुम्हारी सब आशाएँ पूर्ण करूँगा।”

राधेय ने कहा, “इंद्र, देकर बदले में दान लेना यह प्रतिष्ठित पुरुष की शोभा नहीं है। ऐसा करने से दान का माहात्म्य भी चला जाता है। पर तो भी मैं कुछ याचना इसलिए करूँगा, क्योंकि आपने मेरे साथ जो व्यवहार किया है, उसे लोग दुर्व्यवहार बतायेंगे और इससे आपके यश की क्षति पहुंचेगी। आपको मैं उस अपकीर्ति से बचाना चाहता हूँ। इसीलिए मैं कुछ याचना करता हूँ। इस दान से लोग आपकी अपकीर्ति नहीं करेंगे।

“लोग कहेंगे कि इंद्र ने कर्ण के साथ अन्याय तो किया, पर बदले में कुछ दे भी डाल। महात्माओं के दुर्वचनों से आप इस तरह से रक्षा पा सकेंगे। इसीलिए मैं एक याचना करता हूँ। मुझे वह शक्ति दीजिए, जिससे कि आपने अपने शत्रुओं का संहार किया था।” इंद्र को यह वचन सुनकर सानंद आश्चर्य हुआ। उसने कहा, “कर्ण, तुमने देवताओं के राजा पर विजय पा ली। इसीलिए मैं तुम्हारी इच्छा पूरी करूँगा। पहला वरदान तो मेरा यह है कि इन कवच और कुण्डलों को शरीर से काट लेने पर भी इन घावों के चिह्न या निशान तुम्हारे शरीर पर नहीं रहेंगे। तुम पूर्ववत् ही सुंदर बने

रहोगे।

“दूसरे वरदान में शक्ति भी मैं तुम्हें देता हूँ, पर इसके साथ एक शर्त है कि तुम एक ही बार इसका उपयोग कर सकोगे। जिसको तुम चाहो उसको अवश्य ही मार सकोगे। पर यह शक्ति अपना कार्य पूरा करके मेरे पास वापस लौट आयेगी। दूसरी बार इसका उपयोग तुम नहीं कर सकोगे।”

कर्ण ने कहा, “मुझे तो इस शक्ति का दो बार उपयोग करना ही नहीं है। मुझे एक ही शत्रु का हनन करना है।” इंद्र ने कहा, “तुम्हारी मंशा को मैं जानता हूँ। तुम अर्जुन का वध करना चाहते हो। पर राधेय, अर्जुन के सिर पर जब तक कृष्ण का हाथ है, तब तक उसके बाल को भी कोई नहीं छू सकता।” राधेय ने कहा, “इंद्र, मुझे आशा है कि मैं युद्ध में विजेता बनूँगा। कवच-कुण्डल खोकर भी मैं आशावान हूँ।” इंद्र ने कहा, “राधेय, तुम जीतोगे या हारोगे इसका मेरे निकट कोई महत्त्व नहीं है। पर तुमने कवच-कुण्डल देकर एक विशाल यश जीत लिया है। आज से तुम राधेय नहीं, पर कर्ण कहलाओगे, क्योंकि तुम दानी हो। इतिहास में तुम्हारा यश अमर रहेगा। तुमने मेरे संबंध में कहा—‘वर्षा की तरह देनेवाला’, पर अब संसार यह कहेगा—‘कर्ण-सा दानी’ बस, मेरा आशीष लो। मैं जाता हूँ।” यह कहकर इंद्र विदा हुआ। स्वर्ग से फिर पुष्पो की अतीव बरसा हुई, और जय-जयकार हुआ।

कर्ण की यह सारी कथा उसके उदात्त चरित्र को प्रकाश में ले आती है। कर्ण एक महान् व्यक्तित्व था। वह धर्मात्मा था। वचन का दृढ़। “रघुकुल-रीति सदा चली आयी। प्राण जाय वर वचन न जाय।” श्रीराम ने कहा था—

“द्विशरं नामिसंघत्ते द्विस्थापयति नाश्रितान्।

द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विनीमिभाषते॥”

श्रीराम की यह सर्व विभूतियाँ उदारता, निर्भोक्ता, महानता,

वचन की दृढ़ता कर्ण में वर्तमान थी। कुसंग के कारण कर्ण का तेज बादलों के पीछे छिपा पड़ा था। पर व्यास भगवान ने समय-समय पर इस तेज की झलक प्रकट कर दी है।

भगवान राम का स्वभाव कर्ण में संपूर्णतया अवतीर्ण था। कृष्ण ने कहा था—‘कर्ण, तুম धर्मात्मा हो।’ कुन्ती ने भी यही कहा। इस कथा से व्यास भगवान ने भी उन वाक्यों का समर्थन कर दिया।

महाभारत के पात्रों में कर्ण एक अद्वितीय पुरुष था, जिसमें शौर्य, गाभीर्य, सत्य और उदात्त चरित्र था। कर्ण एक तेजस्वी नक्षत्र था, जो दुर्योधन के काले बादलों के पीछे दका रहने से पूरी ख्याति में नहीं आ सका। तो भी व्यासजी ने बादल के पीछे दके हुए कर्ण को प्रकाश में लाकर मानव समाज का अज्ञान मिटा दिया।

महाभारत के अंत में फिर कर्ण अपने असली रूप में पांडव परिवार के सामने प्रकट होता है। युद्ध समाप्त होने पर युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ जब सबकी अत्योष्ठ करके पिउदान और जलांजलि समाप्त कर चुका, तो अचानक कुन्ती ने कहा, “युधिष्ठिर, एक को तो तुम भूल ही गये।” कृष्ण ने सुना और कुन्ती का तात्पर्य भी वे समझ गये, पर बोले कुछ नहीं। युधिष्ठिर ने पूछा, “किसको भूल गये माता?” कुन्ती ने कहा, “कर्ण को।” “क्या कहती हो? कर्ण तो सूतपुत्र था, हमारा शत्रु। उसको जलांजलि कैसे?” कुन्ती ने कहा, “बेटा, कर्ण क्षत्रिय था।” “क्षत्रिय? किसकी संतान?” “मेरी संतान, कर्ण तुम्हारा ज्येष्ठ भ्राता था।” “क्या कहती हो माँ?” “सच कहती हूँ।” और फिर युधिष्ठिर को उसने सारा भेद खोलकर बताया।

अब तो युधिष्ठिर और अर्जुन सब घाती पीटने लगे। हाथ रे हाथ, हमने ज्येष्ठ भ्राता का ही वध कर डाला। कृष्ण ने सबको सांत्वना देकर यह किस्सा समाप्त किया।

पर यह हृदय विदीर्ण करनेवाली कथा है। तात्पर्य यह

है कि कर्ण एक अत्यंत तेजस्वी महात्मा था, जिसका चरित्र दका पड़ा था। उसको व्यासजी ने काली घटाओं में से निकालकर प्रकाश में ला दिया। महाभारत में इने-गिने तेजस्वी पात्र हैं, उनमें कर्ण का स्थान अत्यंत उच्च और प्रकाशमय है।

अंत में युद्ध प्रारंभ हो ही गया। दोनों ओर की सेना कुरुक्षेत्र में एकत्रित होकर लड़ने की तैयारी कर ही रही थी कि एक विचित्र-सी घटना घटी। युधिष्ठिर ने अपना कवच उतारकर अलग रख दिया, सारे शस्त्र-अस्त्रों को भी अपने शरीर से उतारकर जमीन पर डाल दिया, और नंगे पाँव ही भीष्म पितामह के रथ की ओर चल पड़ा। भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव और कृष्ण भी उसके साथ-साथ हो लिये। सभी द्रष्टा चकित होकर युधिष्ठिर के इस आश्चर्यजनक कार्य को देखते रहे। उनकी समझ में नहीं आया कि युधिष्ठिर क्या करने जा रहा है। भीम, अर्जुन आदि सब ने युधिष्ठिर से पूछा भी कि यह आप क्या कर रहे हैं, पर उसने किसी को उत्तर नहीं दिया। केवल कृष्ण जानते थे कि युधिष्ठिर की क्या मंशा है।

युधिष्ठिर नंगे पाँव चलकर कौरवों की सैन्य से घिरे हुए पितामह की ओर जा रहा था। सेना ने तुरंत ही रास्ता छोड़कर युधिष्ठिर को आगे बढ़ने दिया। पितामह के पास पहुँचकर युधिष्ठिर उनके पैर छूकर कहने लगा, “पितामह, आज्ञा दीजिए कि मैं युद्ध प्रारंभ कैसे और आशीर्वाद दीजिए कि मेरी विजय हो।” पितामह ने कहा, “वत्स, कृष्ण तुम्हारे रक्षक हैं, इसलिए विजय के संबंध में क्या संदेह हो सकता है? तुम्हीं विजेता होओगे। मुझे तो दुर्योधन की ओर से लड़ना ही पड़ेगा, क्योंकि मैंने उसका अन्न खाया है। मैं विवश हूँ।”

पितामह का आशीर्वाद लेकर युधिष्ठिर वापस आया। फिर से उसने कवच और शस्त्रों से सुसज्जित होकर युद्ध का शंख फूँका। युद्ध प्रारंभ हो गया।

युद्ध में अनासक्ति अनिवार्य

अर्जुन को इस बीच में विषाद हो गया, जो कृष्ण के उपदेशामृत से दूर हुआ। इस कथा की पुनरुक्ति अप्रस्तुत है। युद्ध प्रारंभ हो गया।

पर अर्जुन जब युद्ध करने लगा, तब पितामह के प्रेम और सम्मान के वश वह शिथिलता से युद्ध कर रहा था। श्रीकृष्ण को उसकी यह शिथिलता अप्रिय लगी। इसलिये अर्जुन को डाँटकर श्रीकृष्ण ने कहा कि यह क्या कर रहे हो? पितामह को मारे बिना युद्ध में विजय असंभव है, इसलिये प्रबलता से लड़ो। फिर भी अर्जुन शिथिलता से ही लड़ता रहा।

इस पर श्रीकृष्ण को क्रोध आ गया। उन्होंने कहा, “अर्जुन, तुम जो खोलकर नहीं लड़ते हो, तो मैं ही लड़कर इस कुड्डे को समाप्त करूँगा। इसके मरे बिना विजय की आशा मत रखो।” यह कहकर श्रीकृष्ण रथ से उतरकर चक्र ले भीष्म की ओर लपके। भीष्म तो गद्गद हो गये।

भीष्म पितामह कहने लगे, “भगवन्, इससे अच्छा मेरा और क्या सद्भाग्य होगा कि मैं आपके हाथों से मरूँ?” पर अर्जुन ने श्रीकृष्ण को रोककर कहा, “कृष्ण, किसी हालत में भी मैं तुम्हारी प्रतिज्ञा भंग नहीं होने दूँगा।”

कृष्ण की प्रतिज्ञा थी कि वह युद्ध में शस्त्र धारण नहीं करेगा। फिर भी जब कृष्ण नहीं माने, तो अर्जुन श्रीकृष्ण से चिपट गया और उन्हें रोककर वापस ले आया। फिर उसने प्रतिज्ञा की कि मैं पितामह के साथ बिना संकोच के लड़ूँगा।

यह श्रीकृष्ण का एक और उदाहरण है कि पांडवों के हित के लिए कहो या धर्म की रक्षा के लिए, वह अपनी प्रतिज्ञा तोड़ने पर भी उतार हो गये थे।

अर्जुन ने कृष्ण से प्रतिज्ञा कर ली कि वह शिथिलता

त्यागकर लड़ेगा और उसी प्रतिज्ञा के अनुसार घोर युद्ध में प्रवृत्त होकर कौरव-सेना का संहार करने लगा। पर वृद्ध पितामह की विनाशकारी शक्ति को वह कृष्ण भी कम नहीं कर पाया। पांडव-सेना का हास जारी रहा। पांडवों को निश्चय हो गया कि जब तक पितामह जीवित हैं, तब तक विजय की आशा मृगतृष्णा है।

रात को युधिष्ठिर ने अत्यंत विन्न होकर कृष्ण से कहा, “कृष्ण, पितामह की शक्ति को देखकर मैं निराशा में डूब गया हूँ। पितामह इतने बलवान हैं कि जब तक वह जिंदा हैं तब तक कौरवों को हम पराजित नहीं कर सकते।”

कृष्ण ने कहा, “युधिष्ठिर, धीरज रखो, इसका भी रास्ता निकलेगा। मैं पितामह की मृत्यु चाहता हूँ। पांडव और विशेष करके अर्जुन मुझे अत्यंत प्रिय हैं। मैं अपने शरीर की बोटी-बोटी काटकर भी अर्जुन के हित के लिए उनका उपयोग कर सकता हूँ। अर्जुन ने प्रतिज्ञा की है कि वह पितामह का वध करेगा। इस प्रतिज्ञा को मैं असत्य नहीं होने देना चाहता। अर्जुन संपूर्ण बल से लड़े, तो वह पितामह का वध कर सकता है। पर उसे पितामह के लिए श्रद्धायुक्त भावना है। युद्ध तो अनासक्त होकर ही लड़ा जाता है। पर तुम सभी भाइयों का पितामह के प्रति अत्यंत स्नेह और पूज्यभाव है। इसलिये तुम लोग उनके वध के लिए उपयुक्त नहीं हो।

“केवल मैं ही यह कार्य कर सकता हूँ, क्योंकि मैं सब द्वंद्वों से विमुक्त हूँ। सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, अमंगल-मंगल मेरे लिए सभी समान हैं। व्याघ्र और हरिण में मैं कोई भेद नहीं देखता, क्योंकि मैं शुभ-अशुभ के भेद को तोड़ चुका हूँ। मेरे लिए कर्तव्यपालन के सिवा अन्य किसी प्रकार की

आसक्ति नहीं रही है।

“यदि अर्जुन पितामह को नहीं मार सकता, तो फिर मुझे ही यह कृत्य करना पड़ेगा।”

युधिष्ठिर की आँखों में आँसू आ गये। उसने कहा, “कृष्ण, यह सब सत्य है, पर मैं तुम्हारी प्रतिज्ञा तोड़ने में कभी भी निमित्त नहीं बनूँगा। मेरी राय है कि पितामह के चरणों में गिरकर हम उनसे ही पूर्ण कि पितामह, आपकी मृत्यु कैसे हो सकती है?”

यह प्रस्ताव सबको पसंद आया और अर्ध-रात्रि व्यतीत होने पर पांडव कृष्ण के साथ पितामह के शिविर में घुस गये।

शिविर में सन्नाटा था। सब-के-सब पितामह के पास पहुँचकर उनके चरणों में गिर गये। भीष्म अपने पौत्रों को देखकर अत्यंत विह्वल हो उठा और कहने लगा, “कृष्ण, तुमको और इन सब बच्चों को देखकर मुझे अत्यंत प्रसन्नता हुई है।” सबको अलग-अलग आशीर्वाद देकर पितामह ने कहा, “अर्जुन, युद्ध में तुम्हारा पराक्रम देखकर मुझे अत्यंत हर्ष हुआ। पर यह कहो, इतनी रात गये तुम सब क्यों आये हो?” युधिष्ठिर खिन्न था, कहने लगा, “पितामह, आपने कहा था कि विजय हमारी होगी, पर जब तक आप यह घोर युद्ध कर रहे हो, तब तक हमें जीतने की कोई आशा नहीं है।” कुछ रुककर आँखों से आँसू गिराते हुए युधिष्ठिर ने फिर कहा, “पितामह, आपके मरने से हमें अत्यंत शोक होगा। पर दूसरा उपाय भी क्या है। आपके प्रति पूज्य भाव, श्रद्धा और प्रेम होते हुए भी हम आपके मरने के इच्छुक हैं। अब आप ही बताइए कि हमारी यह इच्छा कैसे पूरी हो।” पितामह ने कहा, “पुत्र, तुम सच कहते हो। मेरे जीते-जी तुम्हारी विजय असंभव है। पर मैं जीवित रहना नहीं चाहता। मैं शीघ्र मरना चाहता हूँ। पर मेरा वध करना भी आसान नहीं है। मैं मृत्यु के लिए तरस रहा हूँ, पर मेरा

यह अमरत्व ही मुझे क्लेश दे रहा है। तुमने मुझसे मेरे मरने का रास्ता पूछा, यह अच्छा किया। दो ही व्यक्ति मेरा वध करने की शक्ति रखते हैं। एक तो स्वयं कृष्ण और दूसरा अर्जुन। इन दो में से एक भी मुझे मार दे, तो मैं दुखों से घूट जाऊँ।” अर्जुन यह सुनकर रोने लगा। पितामह ने कहा, “वत्स, सुनो, जब तक मैं युद्ध में प्रवृत्त हूँ तब तक मैं अजेय हूँ। पर मैं शस्त्र त्याग दूँ तो मेरा वध करना आसान है। इसका एक ही रास्ता है। मैं किसी स्त्री से युद्ध नहीं कर सकता। या तो जो पुरुष पूर्व-जन्म में स्त्री रहा हो, या कोई पुरुष भी यदि स्त्रीवाचक नामवाला हो तो मैं उससे नहीं लड़ता। इस दृष्टि से तुम यदि शिखंडी को मेरे सामने लाओ, तो मैं शस्त्र त्याग दूँगा। शिखंडी पूर्व-जन्म में स्त्री था। काशी-नरेश की पुत्री अंबा ही अब शिखंडी के रूप में अवतीर्ण हुई है। शिखंडी मेरे सामने आयेगा तो मैं अपना धनुष छोड़कर युद्ध से उपराम हो जाऊँगा। अर्जुन, तुम इस शिखंडी के पीछे रहना। ज्यों ही शस्त्रास्त्र त्यागकर मैं युद्ध से विरत हो जाऊँ, तुम अपने बारां से मुझे बेध डालना। याद रखो, तुम सबको मेरा आशीर्वाद है। अब जाओ और विजय प्राप्त करो। मैं भी मरकर सुखी हो जाऊँगा।”

इतने कथन के बाद भीष्म के चेहरे पर प्रसन्नता और तेज छा गया।

कृष्ण ने हँसकर कहा, “पितामह, प्राण छोड़ो और सुखी हो जाओ।”

अर्जुन ने सब सुनकर कहा, “कृष्ण, यह कुकृत्य है, मैं इसे कैसे करूँगा?” कृष्ण ने कहा, “अर्जुन, यह क्षत्रिय-धर्म तुम्हें पालन करना ही है, इसे धर्म और कर्तव्य समझो और बिना हिचक लड़ो।” अर्जुन ने स्वीकार कर लिया, और सब पितामह के शिविर से खिन्न, पर संतुष्ट होकर लौट आये।

भीष्म की मृत्यु तथा अभिमन्यु का वध

दसवे प्रातःकाल का सूर्य उदय हुआ। भीष्म प्रसन्न थे। इसलिये प्रसन्न थे कि उन्हें देह-त्याग का निश्चय हो गया। किंतु अर्जुन उदास था। वह इसलिये उदास था कि पितामह का उसी के हाथ से वध होगा। अर्जुन ने कहा, “कृष्ण, मैं इतने दिनों से देख रहा हूँ कि ज्यो ही शिखंडी पितामह के सामने आता है, पितामह युद्ध से नाका दे जाते हैं। आज जो पितामह ने कहा है, वही मैं करूँगा। शिखंडी को आगे करूँगा और पितामह की इच्छानुसार उनका वध करूँगा। शिखंडी की कौरव-सेना से हम सब रक्षा करते रहेंगे।”

कौरवों की सैन्य ने असुर-व्यूह रचा था और पांडवों ने देव-व्यूह। युद्ध बड़ी दृढ़ता से आरंभ हुआ। पितामह के बाणों की वर्षा से पांडव-सेना विध्वंस होने लगी। दुर्योधन अत्यंत हर्षान्वित हो रहा था, क्योंकि उसने समझा कि पांडव विनष्ट होनेवाले हैं। दुर्योधन ने पितामह के चेहरे पर अद्भुत प्रसन्नता पायी।

इसी बीच शिखंडी ने भीष्म पर धावा बोल दिया। उसे देखते ही भीष्म ने कहा, “शिखंडी, तुम मर्द नहीं हो। मेरे निकट तो तुम स्त्री ही हो। मैं तुमसे नहीं लड़ सकता।” शिखंडी ने कहा, “भीष्म, कुछ भी कहो पर मैं लड़े बिना पीछे नहीं हटूंगा।” शिखंडी ने यह कहकर भीष्म पर बाण-वर्षा शुरू की। पर भीष्म ने कोई उत्तर नहीं दिया। कौरवों ने पितामह की यह विरक्ति देखकर शिखंडी पर बाण बरसाना शुरू कर दिया। पर पांडव-सेना शिखंडी की रक्षा करने पर तैनात थी।

दुर्योधन ने पितामह से कहा, “पितामह, यह क्या कर रहे हो? युद्ध से उपराम हो रहे हो? यदि आज आपने पांडवों का नाश नहीं किया, तो हमारा विनाश उपस्थित है।”

भीष्म ने कहा, “दुर्योधन, मैंने युद्ध के आरंभ में ही तुमसे कह दिया था कि तुम्हारा विनाश होगा। मैंने तुम्हें कहा था कि मैं पांडव-सेना का नाश कर दूँगा। पर फिर दोहराना यह चाहता हूँ कि पांडवों का बाल भी बाँका नहीं करूँगा। अर्जुन मेरा वध करेगा, पर मैं अर्जुन को नहीं छुऊँगा। पांडवों को देवता भी नहीं हरा सकते, क्योंकि उनके रक्षक कृष्ण हैं। आज मैं मरकर तुम्हारे आरा से मुक्त होनेवाला हूँ। मुझे इसी की प्रसन्नता है। यह निश्चय जान लो।”

द्रोण ने अपने पुत्र अश्वत्थामा से कहा, “पुत्र, मैं अप-शकुन देख रहा हूँ। आज कोई बड़ी दुर्घटना होनेवाली है।” पितामह ने युधिष्ठिर से कहा, “पुत्र, अब शीघ्रता करो। इस शरीर से मुझे मुक्त करो।” इस पर पांडवों ने शिखंडी को आगे कर दिया। अर्जुन शिखंडी के पीछे रहा। शिखंडी की बाण-वर्षा का पितामह ने कोई उत्तर नहीं दिया और अपना धनुष छोड़कर वे युद्ध से उपराम हो गये।

भीष्म ने अपने पूर्व जीवन पर दृष्टिपात किया और मन में कहने लगे, “मैं सबको हरा सकता हूँ, पर इन पांडवों पर काफी अत्याचार हुआ है। इनकी विजय हो यही मेरी कामना है। मेरा जीवन-हेतु समाप्त हो चुका। अब मुझे शरीर-त्याग करना चाहिए।” देवताओं ने ऊपर से कहा, “भीष्म, तुम्हारा सकल मंगलमय है।”

शिखंडी ने बाण बरसाये। पर भीष्म ने अपना धनुष एक किनारे पर रख दिया था। इस दृश्य को देखकर कृष्ण ने कहा, “अर्जुन, अब इस यज्ञ को समाप्त करो।” इस पर अर्जुन को अत्यंत संताप हुआ। पर संतप्त होते हुए भी उसने भीष्म पितामह पर हजारों बाण बरसाकर उनके शरीर को छेद डाला।

भीष्म जब गिरे तो भूमि पर नहीं, बलिक बाल-शैया पर ही। बाल शैया पर पड़े-पड़े भीष्म ने कहा, “मैं चाहत तो हो गया, पर मरूँगा उत्तरायण में।” दुर्योधन बेहोश होकर गिर गया। कौरव और पांडव की सेना स्तब्ध होकर भीष्म के दर्शन करने लगी। दोनों ओर के वीर एकसाथ रो रहे थे।

अंत में भीष्म बोले, “मेरा सिर लटक रहा है, इसका मुझे कष्ट है। मुझे तर्किया ला दे।” दुर्योधन दौड़कर एक मुलायम तर्किया लाया, पर भीष्म ने कहा, “दुर्योधन, यह तर्किया रणक्षेत्र के योग्य नहीं है।” फिर अर्जुन को संबोधित करके कहा, “पुत्र, तুম मुझे तर्किया दो।” इस पर अर्जुन ने एक बाल और पितामह के सिर में मारकर सिर को सहारा दे दिया। दुर्योधन ने अच्छे-अच्छे दक्ष वैद्यों को बुलाया कि पितामह की चिकित्सा हो, पर भीष्म ने उन सबको अपने निकट भी नहीं आने दिया। फिर दुर्योधन से कहने लगे, “दुर्योधन, कृष्ण और अर्जुन यह दोनों नर और नारायण के अवतार हैं। तुम्हारी विजय होने की अब कोई संभावना नहीं है। अब भी तুম इनसे संधि कर लो।” दुर्योधन ने सुना, पर उस पर कोई असर नहीं हुआ।

भीष्म ने आँखें बंद कर ली। बाल-शैया पर लेटे-लेटे महात्मा भीष्म संसार और ससार के सारे दुखों को भूलकर ईश्वर के ध्यान में समाधिस्थ हो गये।

भीष्म पितामह को इच्छा-मृत्यु का वर था। इसलिए स्वेच्छापूर्वक ही उन्होंने ससार-लीला का अंत किया। क्षितिज पर एक सूर्य अस्त हो गया। लेकिन पीछे से प्रकाश छोड़ गया। कौरव-पांडव दोनों रोने लगे। देवों ने पुष्प-वर्षा की। महाभारत के प्रथम दृश्य पर यह पटाक्षेप होता है।

भीष्म पितामह जब युद्ध में गिर गये, तो दुर्योधन हताश हो गया। गहरे सोच-विचार और मंत्रणा के पश्चात् यह तय हुआ कि कौरवों की सेना के संचालन का भार अब द्रोणाचार्य को सौंपा जाये। इस निश्चय के अनुसार द्रोणाचार्य को

सेनाधिपति बनाकर उनका अभिषेक कर दिया गया। द्रोणाचार्य ने दुर्योधन को आश्वासन दिया कि मैं पांडवों का नाश करने का संपूर्ण प्रयत्न करूँगा।

द्रोण बड़े वेग से लड़ने लगे और उन्होंने पद्म-व्यूह की रचना की, जो अभेद्य माना जाता था। उसको बंधनेवाले या तो श्रीकृष्ण और अर्जुन या इनके अलावा केवल दो ही और महारथी थे। जिस दिन यह व्यूह-रचना की गयी, उस दिन अर्जुन और अन्य दोनों महारथी दूसरी ओर युद्ध में प्रवृत्त थे। इसलिए व्यूह बंधनेवाला पांडवों की सेना में और कोई महारथी उपस्थित नहीं था।

पद्म-व्यूह के सिर पर स्वयं द्रोण थे और वह इस बुरी तरह पांडव-सेना का नाश कर रहे थे कि युधिष्ठिर दिङ्मूढ़ होकर सोच नहीं पाया क्या किया जाये? केवल एक बालक अभिमन्यु था, जिसे यह व्यूह छेदना तो आता था, पर उसके भीतर प्रवेश करने के बाद व्यूह से वापस बाहर निकलना नहीं आता था। यह एक समस्या थी।

पर सेना का नाश होता देखकर युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव सभी ने यह निश्चय किया कि व्यूह छेदने का भार अभिमन्यु को ही सौंपा जाये। उसे भीतर जाकर बाहर निकलना नहीं आता था, पर पांडव महारथियों ने यह मानकर कि अभिमन्यु जब व्यूह छेदकर भीतर घुसेगा, तब हम भी उसके पीछे-पीछे घुस जायेंगे और उसकी रक्षा कर पायेंगे, अपने मन को सतृप्त कर लिया।

युधिष्ठिर ने अब अभिमन्यु से कहा, “पुत्र, तुम्हारे पिता तो दूसरी ओर युद्ध में प्रवृत्त हैं, और पद्म-व्यूह रचकर आचार्य द्रोण सेना का नाश कर रहे हैं, इसलिए तूम व्यूह में प्रवेश करो। हम तुम्हें इस संकट में डालना नहीं चाहते, पर दूसरा रास्ता भी नहीं है। हम सब तुम्हारे पीछे-पीछे व्यूह में घुस पड़ेंगे और समस्त विपत्तियों से तुम्हारी रक्षा कर लेंगे।”

अभिमन्यु वीर था और उसे इस बात का गर्व हुआ



कि यह जोखिम का काम उसे सौंपा जा रहा है। अभिमन्यु ने यह भार स्वीकार कर लिया।

वह बड़ी तेजी से युद्ध करता हुआ व्यूह छेदकर घुस गया। पर अन्य पांडव जब उसके पीछे-पीछे प्रवेश करने लगे, तो जयद्रथ ने घोर युद्ध करके व्यूह का द्वार बंद कर दिया और सब पांडव बाहर ही रह गये। पीछे की कथा प्रख्यात है। अभिमन्यु खूब लड़ा पर वह बड़े-बड़े महारथियों ने मिलकर अकेले अभिमन्यु को मार डाला।

यह भारी अधम था, जिसने सारे कुरुवंश को कलंकित किया। अर्जुन जब संध्या समय शिविर में पहुँचा, और इस दुर्घटना का समाचार सुना तो उसके क्रोध का कोई ठिकाना नहीं रहा।

अभिमन्यु का किस तरह वध हुआ, यह कथा युधिष्ठिर और सब भाइयों ने अलग-अलग अर्जुन को सुनायी। जब सब भाई विवरण दे चुके, तब एक बार तो अर्जुन बेहोश होकर गिर पड़ा, पर फिर होश में आया तो मारे क्रोध के उसका सारा शरीर कांपने लगा।

उसने कहा, “मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि कल संध्या के पहले-पहले जयद्रथ को मार डालूँगा। सारे कौरव तो क्या साक्षात् शकर भगवान भी जयद्रथ की रक्षा करेंगे, तो भी उसको जीवित नहीं रख सकेंगे। मैं गांडीव की शपथ खाकर कहता हूँ कि या तो जयद्रथ को मैं कल सूर्यास्त के पहले-पहले मार डालूँगा, और यदि मेरी यह प्रतिज्ञा मिथ्या साबित हुई, तो मैं स्वयं अग्नि में कूदकर अपने-आपको भस्म कर डालूँगा।”

अर्जुन की यह प्रतिज्ञा सुनकर पांडवों के शिविर में सन्नाटा छा गया और कौरवों के शिविर में आतंक छा गया। यदि जयद्रथ नहीं मारा गया तो पांडवों के लिए अभिमन्यु तो गया ही, अर्जुन को भी वे खो बैठेंगे। पांडवों के लिए यह नया संकट उपस्थित हो गया।

जयद्रथ नहीं मरा तो ?

अर्जुन ने गांडीव धनुष को टंकारा, जिसकी गुँज चारों दिशाओं में फैल गयी।

उस रात पांडवों के शिविर में किसी को नींद नहीं आयी, और न कौरव सोये। कौरवों ने यह सोचा था कि अभिमन्यु के शोक के मारे अर्जुन बलहीन और हताश होकर युद्ध से पराङ्मुख हो जायेगा। पर गांडीव की टंकार और कृष्ण के पांचजन्य का नाद सुनकर कौरव घबड़ा उठे। द्रुपद ने कौरवों को अर्जुन की प्रतिज्ञा का हाल सुनाया, तो जयद्रथ मारे भय के विकल हो गया। उसने कहा, “मेरे बचने का एक ही उपाय है कि मैं युद्ध से पलायन कर जाऊँ। अर्जुन धर्मात्मा है, इसलिए भगोड़े को नहीं मारेगा।”

पर दुर्योधन और अन्य कौरवों ने जयद्रथ को हिम्मत बाँधायी और कहा कि सारी कौरव-सैन्य तुम्हारी रक्षा करेगी, इसलिए तुम भयभीत क्यों होते हो ?

इधर सबसे ज्यादा चिंतित थे कृष्ण। अर्जुन की विजय का उत्तरदायित्व श्रीकृष्ण पर था। इसलिए जयद्रथ का वध भी श्रीकृष्ण का ही उत्तरदायित्व था। उन्होंने अर्जुन को काफी उलाहना दिया, “अर्जुन, तुमने जलदबाजी में प्रतिज्ञा की, मुझे तो पूछना था। पर जो हो चुका, उससे अब हटने की गुंजाइश भी नहीं है।”

अर्जुन ने कहा, “कृष्ण, मैं सुभद्रा को मँह नहीं दिखा सकता। तुम ही सुभद्रा को सांत्वना दो।”

सुभद्रा तो मृतक-जैसी पड़ी थी। उसने कृष्ण को भी फटकारा, “तुम्हारे जीते-जी मेरा बालक क्यों मारा गया ?” कृष्ण ने कहा, “सुभद्रा, अभिमन्यु अन्याय से मारा गया है। हम उसका बदला लेंगे, तुम रोग बंद करो।” यह सांत्वना देकर कृष्ण ने अपने सिर पर और भी उत्तरदायित्व ओढ़ लिया।

रात में कृष्ण को नींद नहीं आयी। पलंग पर स्वच्छ शुभ चादर पर लेटे-लेटे वे चिंता में करवटें बदलते रहे। सूर्य



दक्षिणायन में था, इसलिए दिन छोटे होते थे और सूर्यास्त के पहले-पहले जयद्रथ मरना चाहिये।

मध्य रात्रि को श्रीकृष्ण ने अपने सारथी दारुक को बुलाया और कहा, “दारुक, एक बड़ी समस्या उपस्थित हो गयी है। मैंने प्रतिज्ञा की है कि मैं इस युद्ध में निःशस्त्र रहूँगा और युद्ध नहीं करूँगा, पर अर्जुन के बिना मैं जीवित नहीं रह सकता। अतः जयद्रथ को मारने के लिए मुझे अपनी प्रतिज्ञा भी तोड़नी पड़े, तो तोड़ूँगा। यदि द्रोण और कर्ण को मारना पड़े, तो मैं मारूँगा। आवश्यक

होगा तो सुदर्शन चक्र और कौमुदिनी गदा का उपयोग करूँगा, इसलिए दारुक, मेरे रथ को तैयार करके सजा लो। मेरे सारे शस्त्र-अस्त्र रथ में सजा के रखो, गरुडध्वज लगा दो। मेरे अश्वों को रथ में जोतो, घोड़ों को कवच पहना दो। तुम भी कवच पहन लो।”

दारुक ने चुपचाप सुनकर कहा, “स्वामिन्, जो आज्ञा दी है वह सब मैं करूँगा, पर जब आपका अर्जुन के सिर पर हाथ है तो उसकी विजय में कोई शंका नहीं है।”

जयद्रथ और द्रोण प्रतिज्ञा के दाँव में

महाभारत युद्ध का चौदहवाँ दिन उदय होता है, और सूर्यास्त होने के पूर्व ही जयद्रथ का वध करना है। युधिष्ठिर बेचैन था, उसने श्रीकृष्ण से कहा, “कृष्ण, हमारा आधार तो तुम ही हो। अर्जुन ने घोर प्रतीज्ञा की है, अब बाजी तुम्हारे हाथ में है।” कृष्ण ने कहा, “युधिष्ठिर, चिंता छोड़ो, मैं तुम्हारे साथ हूँ।”

अर्जुन ने युद्ध में जाने के पहले युधिष्ठिर के चरण-स्पर्श किये और आशीर्वाद लेकर रथ में बैठा। जो घोर युद्ध हुआ, उसका विवरण महाभारत में है।

कौरवों की सैन्य जी-जान से जयद्रथ की रक्षा में सलग्न थी। फिर भी अर्जुन कौरव-सेना को ध्वस्त करता हुआ आगे ही बढ़ता जा रहा था। सन्नाम इतना भीषण हुआ कि अर्जुन के घोड़े भी थक गये। कृष्ण ने कहा, “अर्जुन, घोड़े घायल हैं, थक भी गये हैं, उनको पानी पिलाना और विश्राम देना आवश्यक है और इधर जयद्रथ तक पहुँचने में अभी काफी फ़सला तय करना है।” अर्जुन ने इस कठिनाई को समझकर पंदल युद्ध करना स्वीकार किया और रथ से उतरकर पंदल ही लड़ने लगा।

श्रीकृष्ण ने कहा, “अर्जुन, यहाँ पानी भी उपलब्ध नहीं है, क्या करना चाहिये? घोड़ों को पानी पिलाना ज़रूरी है, पर पानी कहाँ से पिलाऊँ?”

इस पर व्यासजी ने एक चमत्कार का वर्णन किया है कि अर्जुन ने युद्ध-भूमि में ही बाण चलाकर एक सरोवर पंदा कर दिया। इस युद्ध में सात्यकि और भूरिश्रवा के युद्ध का भी विस्तार से वर्णन है। भूरिश्रवा ने सात्यकि को इतना खदेड़ दिया कि वह बेहोश हो गया। भूरिश्रवा सात्यकि को मारना ही चाहता था कि अर्जुन बीच में कूद पड़ा और बाणों

से भूरिश्रवा के हाथ काट डाले। यह भी धर्म-युद्ध की नीति के विरुद्ध था, पर सात्यकि को तो बचाना ही था।

जब भूरिश्रवा बिना हाथ के निःसहाय होकर हताश हो गया, तो उसने अर्जुन से कहा कि मैं तो अब युद्ध से उपराम होकर देह-त्याग करूँगा। यह कहकर वह कुशा के आसन पर पद्मासन लगाकर ईश्वर का ध्यान करता हुआ योग द्वारा देह त्यागना चाहता ही था कि सात्यकि ने तलवार से उसका सिर काट डाला। इस कृत्य की सब लोगों ने काफी निंदा की। जो युद्ध से उपराम हो गया उसको मारना धर्म नहीं था।

अर्जुन को भी यह कृत्य अच्छा नहीं लगा, पर देव-ताम्रों ने सात्यकि के समर्थन में एक विचित्र तर्क पेश किया। भूरिश्रवा सात्यकि से मरेगा यह विधि का लेख था, इसे सात्यकि कैसे टाल सकता था। यह एक अजीब दलील थी, पर देवताओं की इस व्यवस्था के बाद सब चुप हो गये, और यह किस्सा यहीं समाप्त हो गया।

असली युद्ध तो जयद्रथ को मारने के लिए था। सूर्यास्त होने ही को था और अर्जुन जयद्रथ का वध नहीं कर पाया था। इस बात से अर्जुन और श्रीकृष्ण दोनों को ही चिंता होने लगी। ज्यों-ज्यों अर्जुन का रथ आगे बढ़ा, त्यों-त्यों कौरव सेना भी जयद्रथ की घेरकर उसकी रक्षा में उपस्थित हो गयी।

अब अर्जुन का रथ जयद्रथ के सामने ही आ उपस्थित हुआ। अर्जुन ने जयद्रथ पर बाण-वर्षा शुरू की और जयद्रथ भी बड़े शौर्य से लड़ने लगा। सूर्य का तेज क्षीण हो चुका था—लाली आ गयी थी। यदि कुछ काल तक जयद्रथ जिंदा रहा, तो अर्जुन को अग्नि में कूदकर भस्म होना पड़ेगा।

अर्जुन गया तो पांडव भी समाप्त । यह विकट समस्या थी ।

कृष्ण के सामने यह सारा का सारा भयावना दृश्य उपस्थित था । उन्होंने कहा, “अर्जुन, जयद्रथ का संध्या के पूर्व वध करना असंभव है । इसका दुष्परिणाम मैं जानता हूँ, इसलिये मैं अपने कौशल का उपयोग करूँगा । जब मैं कहूँ ‘मारो’ तब तुम अपने अत्यंत बलिष्ठ शस्त्र का उपयोग करना । मेरी आज्ञा का संपूर्ण पालन करना, यही एकमात्र उपाय है ।”

श्रीकृष्ण ने अपने सुदर्शन चक्र का स्मरण किया और उसे आज्ञा दी कि वह सूर्य को घिपा दे । सूर्य के घिपते ही अंधकार हो गया, कौरवों के उल्लास का कोई पार नहीं था और अर्जुन ने सारी आशा छोड़ दी । जयद्रथ की प्रसन्नता का तो कोई अंत ही नहीं था । अंधकार होते ही, सूर्य अस्त हो गया है या नहीं इस बात का निश्चय करने के लिए जयद्रथ ने आँखें सूर्य की ओर उठायीं और उसी समय कृष्ण ने कहा, “अर्जुन, मार ।”

अर्जुन ने पाशुपत अस्त्र छोड़ा, और जयद्रथ के सिर को धड़ से अलग कर दिया । श्रीकृष्ण ने कहा, “अर्जुन, पाशुपत को प्रेरित करो कि यह जयद्रथ का सिर उसके पिता की गोद में गिरा दे । कौरवों ने देखा कि अर्जुन का बाला जयद्रथ का सिर लिये हुए उसके पिता की ओर जा रहा है । जयद्रथ का मस्तक उसके पिता की गोद में गिरा । उसका पिता सायंकाल की संध्या कर रहा था । ज्यो ही संध्या समाप्त हुई, जयद्रथ का सिर उसके पिता की गोद में गिरा । गिरते ही पिता के सिर के भी सहस्रों खंड हो गये ।

श्रीकृष्ण ने सुदर्शन चक्र को वापस बुला लिया और वापस बुलाते ही सूर्य पूर्ण प्रकाश से प्रज्वलित हो उठा । कौरवों की सैन्य में शोक छा गया । इस तरह जयद्रथ का वध हुआ ।

इस सारी कथा में कुछ विवरण अत्यंत महत्व के और

ध्यान देने योग्य हैं । श्रीकृष्ण जयद्रथ को मारने के लिए अपनी प्रतिज्ञा छोड़ने पर उतर गये थे और अंत में सूर्य पर दक्कन डालकर नकली सूर्यास्त पैदा करके जयद्रथ को धोखे में डालकर मरवाया । तात्पर्य यह है कि जयद्रथ को येनकेन प्रकारेण सही या गलत तरीके से मारना ही श्रीकृष्ण को अभीष्ट था ।

छल-कपट का उपयोग तो हुआ ही । इसके साथ ही साथ जयद्रथ की दुष्टता को भी समाप्त किया गया । कृष्ण को धरती का भार हलका करना था और इस कार्य को वह शीघ्रता और कौशल के साथ करते चले गये ।

जयद्रथ के मरने पर कौरव-सेना में घोर अचेतनी फैल गयी । दुर्योधन को लगा कि द्रोण पांडवों के स्नेह के कारण पूरी शक्ति लगाकर युद्ध नहीं कर रहे हैं । दुर्योधन ने यह अपना रुदन द्रोणाचार्य को सुनाया और अपनी आशंका भी प्रकट की कि यदि आप पूरी शक्ति से न लड़ोगे, तो विजय असंभव है । द्रोणाचार्य ने दुर्योधन को सांत्वना दी और आश्वासन दिया कि मैं पांडवों के नाश का संपूर्णतया प्रयत्न करूँगा ।

उस प्रतिज्ञा के अनुसार गुरु द्रोणाचार्य ने अब अत्यंत क्रूरता से युद्ध करना आरंभ कर दिया ।

धर्म-युद्ध का नियम यह होता है कि दैवी शस्त्रों-ब्रह्मास्त्रों इत्यादि का बिना विशेष कारण के प्रयोग न किया जाये । विशेष करके इस अस्त्र का महान् योद्धाओं के विरुद्ध ही उपयोग किया जाता था । पर द्रोणाचार्य ने साधारण सैनिकों पर भी इस अस्त्र का उपयोग करना शुरू कर दिया । एक ही बार में द्रोण के हाथ से करीब २० हजार सैनिक पांडवों के हताहत हो गये ।

श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा, “युधिष्ठिर, द्रोण राक्षस की तरह लड़ रहा है और धर्म-युद्ध नहीं कर रहा है । इस पर विजय पाना असंभव है और यदि यही क्रम चलता

रहा, तो पांडवों की सेना में एक भी सैनिक जीवित नहीं बचेगा। अतः कोई ऐसा उपाय होना चाहिए जिससे कि द्रोण स्वयं युद्ध से उपराम हो जाये, और वह उपाय है कि उन्हें अश्वत्थामा के मरने की सूचना दी जाये। यदि द्रोण को यह विश्वास हो जाये कि अश्वत्थामा सचमुच मर गया है, तो वह शोकानुर होकर युद्ध त्याग देंगे।

यह प्रस्ताव अर्जुन ने तो माना, पर युधिष्ठिर को यह असत्य पसंद नहीं आया। अंत में युधिष्ठिर भी दबाव में आकर सहमत हो गया।

पांडवों की सैन्य में अश्वत्थामा नाम का हाथी था, उसको भीम ने मारकर द्रोणाचार्य से कहा, “गुरुजी, अश्वत्थामा मर गया है। यह सुनकर द्रोणाचार्य बेहोश हो गये। पर चैतन्य होते ही फिर दृढ़ता से लड़ने लगे, और फिर से ब्रह्मास्त्र का उपयोग करने लगे।

श्रीषि और देवगण जो आकाश से युद्ध देख रहे थे, द्रोणाचार्य का यह अधर्म देखकर बोले, “द्रोणाचार्य, अधर्म क्यों कर रहे हो। इससे अच्छा तो यह है कि तुम्हारी मृत्यु ही हो जाये। हमारी तरफ देखो और अस्त्र-शस्त्र छोड़ो। वेद-वेदांग के तुम ज्ञाता हो। तुम्हारे जैसे ब्राह्मण को यह निर्दयता शोभा नहीं देती।”

आकाशवाणी को सुनकर द्रोणाचार्य का उत्साह ढीला हो गया। अपने समुख युधिष्ठिर को देखकर द्रोणाचार्य ने कहा, “वत्स, तुम कहो कि अश्वत्थामा जीवित है या सचमुच मर गया।” द्रोण को विश्वास था कि युधिष्ठिर कभी भी असत्य नहीं कहेगा।

युधिष्ठिर क्रिभ्रकने लगा। इस पर श्रीकृष्ण ने कहा, “युधिष्ठिर, यदि द्रोणाचार्य इसी तरह लड़ता रहा, तो पांडवों की सेना में एक भी सैनिक जीवित नहीं रहेगा। द्रोणाचार्य अधर्म-युद्ध कर रहा है, इसलिए तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम असत्य बोलो। असत्य आचरण पाप है, पर ऐसी अवस्था में यह पाप नहीं है।”

युधिष्ठिर मान गया। इसलिए जब द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया, तो उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा, “अश्वत्थामा मर गया।” पर धीरे से उसमें यह भी जोड़ दिया कि “वह नर था या हाथी, पता नहीं।” युधिष्ठिर का रथ जो जमीन से चार अंगुल ऊँचे चलता था, इस असत्य वाक्य के कहते ही जमीन पर बैठ गया।

युधिष्ठिर ने आखिरी बात इतने धीमे स्वर में कही थी कि द्रोण उसे नहीं सुन पाये, और अश्वत्थामा के मरने की खबर पर विश्वास करके बेहोश होकर गिर गये।

इस तरह भीष्म के अनंतर द्रोण का अंत होता है। भीष्म गये, जयद्रथ गया, दुःशासन गया और अब द्रोणाचार्य भी गये। कौरव-सेना में घोर निराशा छा गयी। दुर्योधन हतबुद्धि हो गया।

द्रोण की मृत्यु के बाद खूब सोच-विचारकर उसने युद्ध का भार कर्ण को सौंपा। यही एक मार्ग था। वैसे कर्ण उप-युक्त तो था ही। पर धर्म कौरवों के विपरीत था। कौरव विजय से निराश हो गये।

पृथ्वी का भार हलका होता जा रहा है, और अब कर्ण भी इसी पंक्ति में आकर यम-द्वार खटखटाने जा रहा है।

अर्जुन द्वारा कर्ण का युक्तिपूर्ण संहार

पंद्रह दिन के युद्ध ने दो महायोद्धाओं का विनाश देखा। पितामह गये और आचार्य द्रोण भी गये। यह कौरवों के लिए एक भीषण विद्युत्-प्रपात था। उस रात्रि को कौरवों के शिविर में मुर्दों की गंध गयी। सब चिराश थे।

दुर्योधन ने अपने साथियों की एक परामर्श-सभा बुलायी। उसमें उसने सबकी राय पूछी। सबसे पहले अश्वत्थामा ने अपना विचार सबके सामने रखा, “नया सेनानायक ऐसा होना चाहिए, जो शक्तिवान हो, चतुर हो, दक्ष हो और जो बिना संशय के विजयी हो सके। दुर्योधन, तुम्हारे पास योद्धाओं की कमी नहीं है। इसलिए हताश होने की कोई बात नहीं है। हम सभी तुम्हारे लिए प्राण देने को तैयार हैं। पर इस सेनाध्यक्ष के पद के लिए यदि कोई योग्य व्यक्ति है, तो वह कर्ण ही है। भीष्म और द्रोण दोनों ने युद्ध तो किया, पर उनके हृदय में पांडवों का स्नेह था। यह दोनों के दोनों धर्मयुद्ध के नियमों के विपरीत मारे गये। उनकी आत्मा युद्ध से अनासक्त थी। कर्ण की बात भिन्न है। वह पूरी शक्ति लगाकर लड़ेगा। इसलिए कर्ण को ही सेनानायक बनाया जाये।” यह प्रस्ताव दुर्योधन को पसंद आया। उसने कर्ण से कहा, “राधेय, अब मुझे एक तुम्हारा ही भरोसा है। यह भार मैं तुम्हें ही सौंपना चाहता हूँ।”

दुर्योधन का यह प्रस्ताव सुनकर कर्ण में उमंग आ गयी। वह बोला, “दुर्योधन, मैं तुम्हारा विश्वासपात्र हूँ, इसकी मुझे अत्यंत प्रसन्नता है। मैं कल तक अर्जुन को समाप्त करके पृथ्वी तुम्हारे चरणों में समर्पण कर दूंगा।”

इसके बाद राधेय सेनानायक बन गया। सोलहवें दिन के प्रभात से कर्ण ने बागडोर अपने हाथ में लेकर युद्ध

आरंभ किया।

युधिष्ठिर ने दूसरे दिन कर्ण की व्यूह-रचना देखकर खिन्न होकर अर्जुन से कहा, “अर्जुन देखो, सोलह दिन में कितना अंतर हो गया है। कौरवों का कितना नाश हो गया। जो एक विशाल सेना थी वह अब छोटी-सी रह गयी है। तुम यदि कर्ण को समाप्त कर दो, तो समझ लो कि विजयी हो गये।” अर्जुन इस कथन से सहमत था।

अब कर्ण ने बड़े आवेश में आकर युद्ध आरंभ किया। राधेय की बारा-वर्षा के सामने पांडव-सेना का उपस्थित रहना मृत्यु-मुख का सामना करना था। दोनों ओर के योद्धा एक-दूसरे से भिड़ंत ले रहे थे। दोनों ओर काफी संहार हुआ, पर प्रथम दिन के युद्ध में कोई निराशात्मक फल नहीं निकला। न तो दोनों सेना-शिविरों में कोई हर्ष था, न कोई विषाद ही था। सोलहवें दिन के इस युद्ध से दुर्योधन को निराशा हुई, क्योंकि अर्जुन अब तंक जीवित था।

रात को राधेय दुर्योधन के शिविर में गया। वह दुर्योधन की निराशा से परिचित था। शिविर में दुर्योधन अकेला था। राधेय ने उससे कहा, “दुर्योधन, मुझे खेद है कि मैं आज अर्जुन को समाप्त नहीं कर सका। पर कल मैं अर्जुन से घोर संग्राम करनेवाला हूँ। मेरी सारी बात सुन लो। मैं सब बातों में अर्जुन से खरिब हूँ। मैं अधिक बलवान हूँ। मेरा प्रख्यात धनुष विजय गांडीव से भी बड़कर है। कल मैं अर्जुन का नाश करना चाहता हूँ। पर दुर्योधन, मेरी तरफ एक कमी है। अर्जुन के सारथी तो कृष्ण हैं, वह अत्यंत दक्ष हैं। पर मेरा सारथी साधारण है। यदि तुम शल्य को समझाकर उसे मेरा सारथी बना सको तो मैं अर्जुन पर

विजय पा सकता हूँ।” दुर्योधन ने वादा किया कि वह शल्य को समझाकर उसका सारथी बना सकेगा।

राधेय अपने शिविर में लौट आया। प्रयत्न करने पर भी उसे नींद नहीं आयी। कर्ण को निश्चय था कि उसके जीवन की यह अंतिम रात्रि है। जहाँ कृष्ण हैं, विजय वहाँ ही है। शल्य सारथी होकर भी कृष्ण का मुकाबला कैसे करेगा? राधेय इस प्रकार के सकलप-विकलप में डूबा हुआ था। उसने अपनी दोनों माताओं का स्मरण किया। राधा के लिए उसे ममत्व था। फिर उसे कुंती का स्मरण हो आया। उसकी शांत मूर्ति और स्नेहपूर्ण आँखों ने उसे मगध कर दिया था। कुछ ही काल उसने कुंती के साथ बिताया था, पर उसको वह भूल नहीं सका।

कर्ण ने बल था। वह युद्ध विशारद था। पर गुरु का शाप था कि ऐन मौके पर वह मंत्र की स्मृति खो बैठेगा, और उसके रथ के पहिये ऐन मौके पर कीचड़ में फँस जायेंगे, और उसी में उसकी मृत्यु होगी।

पर राधेय को इसकी कोई चिंता नहीं थी। वह जीवन से ऊँचा हुआ था। मृत्यु मानो उसके लिए एक शश्वत निद्रा थी। वह दुर्योधन के अग्र से मुक्त होना चाहता था। मृत्यु ही एकमात्र उसका मार्ग था। मृत्यु के बाद पांडवों का बार-बार अपमान करने का यह कुकृत्य उसे नहीं करना पड़ेगा। इसी की उसको अभिलाषा थी। वह जानता था कि कृष्ण की उस पर पूर्ण अनुकंपा है। उसका भी कृष्ण के प्रति गाढ़ प्रेम था। पर वह दुर्योधन के अग्र से बँधा हुआ था। इस द्विविधा की एकमात्र औषधि थी मृत्यु। इसी का वह आह्वान कर रहा था। इसी उधेड़-बुन में राधेय की रात बीती।

दूसरे दिन दुर्योधन ने शल्य से प्रार्थना की कि वह राधेय का सारथी बने। सुनते ही एक बार तो शल्य आग-बबूला हो गया। पर अंत में उसने स्वीकार कर लिया। शल्य ने कहा, “दुर्योधन, तुम्हारी प्रार्थना पर मैं राधेय का सारथी

तो बनूँगा, पर उसकी समालोचना से कभी भी मैं विरत नहीं हूँगा।” यह शर्त स्वीकार की गयी।

शल्य रथ हाँककर राधेय के सामने उपस्थित हुआ। कर्ण ने रथ की परिक्रमा की। अपने पिता सूर्य का स्मरण किया, और फिर रथ में बैठकर दुर्योधन से कहने लगा, “दुर्योधन, मैं शक्ति-भर लड़ूँगा। पर फल मेरे हाथ में नहीं है।” यह उसकी अंतिम विदाई थी। राधेय की आँखों से आँसू टपकने लगे।

शल्य ने रथ हाँका। अपशकुन हुए। राधेय जानता था कि इन अपशकुनों का क्या अर्थ है। शल्य रथ हाँकता गया और पांडवों की प्रशंसा भी करता रहा।

कर्ण ने कहा, “शल्य, जैसा तुम्हारा नाम है वैसे ही तुम हो। पर मैं निश्चित हूँ। मनुष्य ईश्वर के साम्राज्य में एक असहाय अल्प प्राणी है। भीष्म मरे, द्रोण मरे। पर मनुष्य असहाय होते हुए भी अपने प्रारब्ध का स्वतंत्र जनक है। मैं अपनी मृत्यु को नहीं टाल सकता, लेकिन यश लेकर मर सकता हूँ। यह मेरे हाथ की बात है। मैं अपना कर्त्तव्य-पालन करते हुए लड़ूँगा और मरकर स्वर्ग पहुँचूँगा।”

अब घोर संग्राम शुरू हुआ। युधिष्ठिर सामने आया। कर्ण ने उसके रथ को चिन्न-भिन्न कर दिया। उसका धनुष भी काट डाला। युधिष्ठिर का शरीर लहलुहान हो गया। असहाय होकर बिना शस्त्रास्त्र के युधिष्ठिर राधेय की तरफ देखने लगा। कर्ण ने कहा, “युधिष्ठिर, तुम क्षत्रिय वंश में तो पैदा हुए हो, पर स्वभाव से तुम ब्राह्मण हो। मैं तुम्हारी हत्या नहीं करूँगा। मुझे तो अर्जुन से लड़ना है।” ऐसा कहकर युधिष्ठिर को असहाय अवस्था में छोड़कर कर्ण उसके सामने से हट गया।

युधिष्ठिर इतना आहत हो गया था कि उसे विश्राम लेना पड़ा, और अपने शिविर में लौट जाना पड़ा।

राधेय के बालों ने उसके शरीर में इतने क्षत पैदा कर

दिये कि उनकी पीड़ा से बेचैन होकर युधिष्ठिर अपने शिविर में विभ्राम के लिए पलंग पर लेटा पड़ा था। पर वह अत्यंत खिन्न था। स्वभावतः शान्तिप्रिय होने से वह इस कलह और युद्ध से असंतुष्ट था। उसका यह असंतोष दिन-दिन बढ़ रहा था। पर एक बार युद्ध में प्रवृत्त हो गया, तो उससे पीछे हटना भी संभव नहीं था।

कर्ण के बाराणों की पीड़ा से अधिक तो वह कर्ण के वचनों से पीड़ित था। वह चाहता था कि यह युद्ध शीघ्र ही समाप्त हो। पर यह तो विजय के साथ ही संभव था।

अर्जुन ने अब तक कोई बड़ी करामात नहीं दिखायी, इसका भी उसे असंतोष था। सेना के साधारण सैनिकों का तो रोज भीषण संहार हो रहा था, पर अब तक राधेय को समाप्त नहीं कर पाया। राधेय का यह वचन कि युधिष्ठिर तुम ब्राह्मण हो, उसे काँटे की तरह पीड़ा दे रहा था।

अर्जुन ने जब सुना कि युधिष्ठिर बाराणों से पीड़ित होकर अपने शिविर में लेट रहा है, तो उसने कृष्ण से कहा, “कृष्ण, जरा भाई को भी संभालना चाहिए।” दोनों युधिष्ठिर के शिविर में गये। वहाँ शिविर में प्रवेश करते ही देखा कि युधिष्ठिर विषाद के बोझ से दबा हुआ अकेला ही शोक-मग्न होकर तड़प रहा है।

उन दोनों को देखकर युधिष्ठिर ने समझा कि शायद यह दोनों कर्ण का वध करके उसे यह सन्नाह देने आये हैं। इसलिए उतावला होकर पूछने लगा, “अर्जुन, तुमने मेरे दिल का काँटा निकाल दिया। राधेय के वचन मुझे बाराणों से भी अधिक पीड़ा दे रहे हैं। तुम उसका वध करके आये हो इससे मुझे प्रसन्नता है।” अर्जुन ने कहा, “स्वामिन, मुझे खेद है कि अब तक मैं राधेय का वध नहीं कर पाया हूँ।” यह सुनकर युधिष्ठिर को अत्यंत निराशा हुई। क्रोध भी आया। कटु वचन भी मुँह से निकल गये। कहने लगा, “अर्जुन, गांडीव को छोड़ दो। इस राधेय को तो मैं ही मारूँगा।”

अर्जुन को भी इन वचनों से क्रोध आ गया। पर कृष्ण ने दोनों को शांत किया। अर्जुन ने प्रतिज्ञा की कि वह युद्ध में राधेय को पराजित करके ही वापस लौटेगा।

बाहर आने पर कृष्ण ने कहा, “अर्जुन, तुमने प्रतिज्ञा तो की है पर राधेय साधारण योद्धा नहीं है। वह काशिराज और जरासंध जैसे वीरों को अकेले ही हरा चुका है। राधेय तुम्हारे समान ही नहीं, बल्कि वह तुमसे भी कहीं अधिक बड़-चढ़कर है। अग्नि का-सा तेज, वायु की-सी गति, क्रोध में इंद्र के समान, ऐसा है वह राधेय। वह शूर है, धर्मात्मा है और दानी है। कभी उसमें सिर्फ इतनी है कि वह दुर्योधन से वचनबद्ध होकर पाप के पक्ष में लड़ रहा है।

अर्जुन ने कहा, “कृष्ण, तुमने मुझे सावधान कर दिया, यह अच्छा ही किया। यह तुम्हारी अनुकंपा है। पर तुम्हारे आशीर्वाद से मैं अंत में विजय प्राप्त कर ही लूँगा। अब मेरे रथ को राधेय के सामने ले चलो।”

राधेय ने अर्जुन के रथ को अपने सामने आते देखकर शल्य से कहा, “राजन्, आज मैं विजय का प्रयत्न करूँगा, और घोर युद्ध करूँगा। अर्जुन का वध करने की मेरी प्रतिज्ञा है। पर यदि मैं युद्ध में मारा गया तो शल्य, तुम क्या करोगे?” शल्य भावावेश में आकर बोला, “राधेय, यदि तुम कालशस्त हो गये, तो मैं अर्जुन और कृष्ण दोनों को मारकर तुम्हारा बदला लूँगा।” राधेय ने शल्य के यह वचन सुनकर एक नया उत्साह आ गया।

इधर अर्जुन को उत्साह दिलाते हुए कृष्ण ने कहा, “अर्जुन, तुम अवश्य जीतोगे। पर यदि तुम मारे गये तो यह निश्चय जानो कि मैं राधेय और शल्य दोनों को मार डालूँगा। क्रोध से सारे विश्व को भस्म कर दूँगा। अर्जुन, चाहे सूर्य छिन्न-भिन्न हो जाये, अग्नि चाहे अपनी उष्णता को त्याग दे, पर तुम्हारी विजय निश्चित है।” इन वचनों से अर्जुन का उत्साह चौगुना बढ़ गया, उसका रथ राधेय की तरफ मुड़ा।

अश्वत्थामा ने अर्जुन के रथ को सामने आते हुए देखा। दुर्योधन का भाई दुःशासन इसके एक दिन पूर्व ही भीम के हाथ मारा गया था। भीम अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार दुःशासन को मारकर एक मंजलि भर उसके हृदय का रुधिर भी पान कर गया। इस भयंकर दृश्य को देखकर दोनों ओर के योद्धा स्तब्ध हो गये। पर भीम की यह प्रतिज्ञा थी।

दुर्योधन इस सारी घटना से विह्वल हो रहा था। इस शोकजनक वातावरण को देखकर अश्वत्थामा ने कहा, “दुर्योधन, देखो यह दोनों वीर भिड़ने जा रहे हैं। एक-दूसरे को मारने पर उतारू हैं, यह कितने शोक की बात है। दुर्योधन, इस प्रलयकारी कलह को अब बंद करो। पांडव सत्पुरुष हैं। वे युद्ध नहीं चाहते। मेरा पिता गया। भीष्म गये। राधेय आज जानेवाला है। कृष्ण को संधि का प्रस्ताव शुभ लगेगा। युधिष्ठिर तो शांतिप्रिय है ही। मैं अमर हूँ। कृपाचार्य भी अमर हैं। फिर भी तुम्हारी हार और पांडवों की विजय निश्चित है।”

सुनकर दुर्योधन चुप रहा। फिर लम्बी सांस लेकर कहने लगा, “अश्वत्थामा, जो तुम कहते हो वह सत्य है। पर मेरा भाई दुःशासन कल ही मारा गया है। अब मैं जी कर भी क्या करूँगा? मुझे भी लड़ते-लड़ते मर जाने दो। अब दूसरा कोई रास्ता ही नहीं है।”

राधेय और अर्जुन के बीच भिड़ंत शुरू हो गयी। दोनों ओर की पैतराबाजी आरंभ में तो दीली-सी थी, पर शीघ्र ही युद्ध की गति बदने लगी।

अर्जुन ने दैवी शस्त्र प्रयोग में लाने का निश्चय करके प्रथम तो कर्ण की ओर आग्नेय अस्त्र फेंका, जिसके उत्तर में राधेय ने बरुणास्त्र फेंका। अर्जुन के आग्नेय अस्त्र ने जो आग लगायी वह बरुणास्त्र ने बुझा दी। कर्ण ने मंत्र पढ़कर फिर भार्गवास्त्र छोड़ा। इससे पांडवों की सेना का भीषण संहार होने लगा। यह देखकर भीम ने अर्जुन को डाँटकर

कहा, “तुम औरतों की तरह लड़ते हो, इससे अच्छा तो यह है कि मैं ही कर्ण से भिड़ जाऊँ।” कर्ण ने भी इस उलाहने का समर्थन करते हुए अर्जुन से कहा, “अर्जुन, याद रखो कि तुम नर के अवतार हो। एक विशेष हेतु को लेकर तुम्हारा जन्म हुआ है। उस हेतु को पूरा करो, और अपनी शक्ति का स्मरण करके हृदय से लड़ो।”

इस पर अर्जुन ने ब्रह्मास्त्र छोड़ा। इससे कौरव-सेना का भयंकर नाश होने लगा, पर निर्ऋत्यात्मक परिणाम फिर भी नहीं निकला। राधेय ने तीव्र बारा फेंकने शुरू किये। उनसे पांडव-सेना का संहार तो होने लगा, लेकिन फिर भी जब कोई निर्णय नहीं निकला, तो उसने अपने बहुमूल्य नागास्त्र का उपयोग करने का निश्चय किया। इंद्र की दी हुई शक्ति तो अमोघ थी। पर उसका तो वह घटोत्कच के युद्ध में ही उपयोग कर चुका था। वह शक्ति इंद्र के पास वापस चली गयी थी। इसीलिए उसने नागास्त्र को अर्जुन के सिर पर संधान किया।

शल्य ने कहा, “कर्ण, सिर पर नहीं, अर्जुन की छाती पर इस शस्त्र को साधो।” कर्ण ने कहा, “कर्ण बार-बार संधान को नहीं बदलता। द्विशरनामिसंधत्ते।” यह कहकर उसने नागबारा को छोड़ा। कृष्ण ने जब देखा कि यह भयंकर अस्त्र अर्जुन की ओर लपक रहा है, तो उन्होंने सारथी की चतुराई का उपयोग करके घोड़ों को दबा दिया। उसके साथ ही रथ भी कुछ दबाया और वह नागबारा अर्जुन के सिर पर न लगाकर उसके मुकुट पर लगा। इस तरह तीर खाली गया।

राधेय अब हताश हो गया। उसके पास अब कोई बड़ा शस्त्र नहीं रहा। कुछ दैवी शस्त्रों का प्रयोग करना चाहता था, पर शापवश उसकी स्मरण-शक्ति विस्मृत हो गयी। राधेय ने समझ लिया कि काल का विधान टल नहीं सकता।

अर्जुन ने तीक्ष्ण बारा चलाकर राधेय के रथ के पहियों के रक्षकों को भगा दिया। रक्षक भाग जाने से पहियों को

सँभालनेवाला कोई नहीं रहा। अब कर्ण के पहिये दलदल में फँस गये। कर्ण की स्मरण-शक्ति चली गयी। पहियो को कीचड़ में से निकालने के लिए रक्षक तो थे नहीं, इसलिये राधेय को स्वयं ही रथ से उतरकर पहिये निकालने का भ्रम करना पड़ा। पर अर्जुन की बारा-वर्षा बंद नहीं हुई।

राधेय ने कहा, “अर्जुन, यह धर्म-युद्ध नहीं है। मैं जब तक रथ के पहिये कीचड़ में से न निकाल लूँ, तब तक तुम बारा-वर्षा बंद करो।”

श्रीकृष्ण ने इस पर हँसकर कहा, “राधेय, तुमने तो धर्म को कभी से तिलांजलि दे रखी है। तुम्हें अब धर्म की दुहाई देने का क्या अधिकार है? जब पांडवों को लाक्षामृह में जला देने का षड्यंत्र रचा गया, तब तुम्हारा धर्म कहाँ था? द्रौपदी को सभा में घसीट-घसीटकर लाया गया, तब तुम्हारा धर्म कहाँ था? क्या अभिमन्यु को तुम लोगो ने धर्मयुद्ध में मारा था?” यह सब सुनकर राधेय ने सिर नीचा कर लिया, क्योंकि यह सब कठोर सत्य था।

कर्ण रथ के पहिये खेचकर रथ को ऊँचा करके फिर लड़ने लगा। पहिये फिर फँस गये। फिर निकालकर लड़ने लगा। पर विधि का विधान विपरीत था। पहिये फिर धँस गये। कर्ण फिर नीचे उतरकर पहिये निकालने लगा, तब कृष्ण ने कहा, “अर्जुन, अब देर न करो। राधेय फिर से लड़ने लगेगा तो न मालूम वह क्या करेगा। इसलिये इसका अंत करो।” राधेय निर्बल हो चला था। देवी अस्त्र-शस्त्रों के सब मंत्र भूल चुका था। वह जब पहिये निकाल रहा था, अर्जुन ने बारों से उसके हाथ काट डाले, और अंत में एक तीक्ष्ण बारा चलाकर उसका सिर भी धड़ से अलग कर दिया।

कर्ण समाप्त हुआ। कौरव सैन्य में हाहाकार मच गया। राधेय के अवसान से दुर्योधन को भीषण धक्का लगा। शोक से विह्वल होकर कुछ सात्वना पाने के लिए वह शर-

शैया* पर लेटे हुए पितामह के पास जाकर रोने लगा। पितामह ने कहा, “दुर्योधन, रोने से अब क्या लाभ? राधेय ने क्षत्रिय-धर्म का पालन करते हुए देह त्यागी है। इसमें शोक क्या?” “क्षत्रिय-धर्म? पितामह, क्या कहते हो? राधेय तो सूतपुत्र था। आप उसे क्षत्रिय कैसे बताते हैं?” पितामह ने कहा, “वत्स, राधेय सूतपुत्र नहीं, क्षत्रिय-पुत्र था।” “पितामह, मुझे बताइए वह किसकी सत्ता था?” पितामह ने कहा, “यह रहस्य मैं नहीं बता सकता, क्योंकि मैंने राधेय को वचन दिया था कि मैं उसके जन्म की कथा गुप्त रखूँगा। तुम यदि प्रतिज्ञा करो कि यह रहस्य तुम किसी से नहीं बताओगे, तभी मैं तुम्हें बताऊँगा।” दुर्योधन ने कहा, “पितामह, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि यह रहस्य मैं छिपाकर रखूँगा।” पितामह ने कहा, “दुर्योधन तुम सुनकर स्तब्ध हो जाओगे। पर हृदय को कठोर करके सुनो। राधेय, राधेय नहीं बल्कि कौंतेय था। पाँचों पांडव भाइयों का ज्येष्ठ भाता था।” भीष्म पितामह की बात सुनकर दुर्योधन बेहोश होकर गिर पड़ा। फिर चैतन्य हुआ तो कहने लगा, “हाय! मैंने एक ऐसे धर्मत्मा को मरवा दिया। उसने मेरे लिए अपने भाइयों से लड़कर प्राण दे दिये। पर यह रहस्य उसने मुझे कभी नहीं बताया। ऐसे महापुरुष को मैंने मरवा दिया।” पितामह से सात्वना लेकर दुर्योधन वापस अपने शिविर को लौट आया।

आशा बलवान होती है। बड़े-बड़े योद्धा मारे गये। फिर भी विजय की आशा में दुर्योधन ने शल्य को सेनानायक बनाया। पर एक ही दिन के युद्ध में उसका भी अवसान हो गया। इस तरह अट्ठारह दिन में महाभारत का युद्ध समाप्त होता है।

* शर-शैया का किसी विचारवान ने एक नया अर्थ किया है। शर अर्थात् सरकड़े का घास। उससे बनी हुई चटाई वह शर-शैया। अर्थात् पितामह सरकड़े की चटाई पर लेटे हुए थे।

परास्त दुर्योधन का आत्मबल

युद्ध तो समाप्त हुआ पर दुर्योधन अभी भी जीवित था। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता था कि पांडवों की संपूर्ण विजय हो चुकी। कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना में से एक भी सैनिक जीवित नहीं रहा। तो भी दुर्योधन तो जीवित था ही। इसके अतिरिक्त कृपाचार्य, अश्वत्थामा और कृतवर्मा भी जिंदा थे। तात्पर्य यह कि कौरव-सेना अब सैनिकों की नहीं, बल्कि योद्धाओं की ही रह गयी। पांडव-सेना में बचे दो सौ रथ, सात सौ हाथी, एक हजार घोड़े और कुछ सैनिक अट्ठारह दिन पहले जो दोनों ओर की वृहत् सेना थी वह अब नाममात्र की रह गयी। इस गृह-कलह का परिणाम सबने अनुभव तो कर लिया, पर महाभारत-यज्ञ की पूर्णाहुति अभी बाकी थी।

दुर्योधन ने रणभूमि पर एक शोकभरी ह्मिट डाली। विदुर के यह शब्द कि 'तुम सारे क्षत्रिय-वंश का नाश कराओगे,' उसके कानों में गूँज रहे थे।

शोक से विह्वल और उद्वेग से भरा हुआ दुर्योधन हत-बुद्धि होकर रणक्षेत्र से चले दिया। उसका शरीर तप्त था। किसी शीतल स्थान की खोज में वह चलता ही रहा। सामने एक शांत सरोवर दिखायी दिया, तो उसने सोचा, चलो, इस सरोवर में डुबकी मारने से कुछ तो शांति मिलेगी।

अकेला खिन्न चित्त से वह उस सरोवर की ओर देख ही रहा था कि संयोग से संजय वहाँ आ गया, और उसे इस स्थिति में देखकर आँसुओं से उसकी आँखें उबडबा गयीं। दुर्योधन भी संजय की इस व्यथित मूर्ति को देखकर रो पड़ा।

संजय दुर्योधन की उस संतप्त दशा को देखकर स्नेह के मारे विलुप करने लगा।

दुर्योधन आशाविहीन होकर अकेला जीवन से ऊँचा

हुआ उस सरोवर के तट पर खड़ा था। संजय दुर्योधन के निकट गया। पर शोकसंतप्त दुर्योधन ने उसे पूरा पहचाना भी नहीं। दुर्योधन की आँखें और हृदय दोनों ही निर्जीव थे। संजय ने कहा, "महाभारत, मैं संजय, धृतराष्ट्र का सारथी, आपके संमुख खड़ा हूँ।" दुर्योधन ने कुछ संभलकर कहा, "संजय, मुझे प्रसन्नता है कि तुम पांडवों के क्रोध से विंचित हो और जीवित हो।" संजय ने कहा, "महाराज, मैं अपने शिविर में था। पांडवों ने सारी सैन्य को यम-द्वार पहुँचा दिया और फिर मेरे शिविर में वे सब आपकी खोज में आये थे। सात्यकि ने मुझे भी मारना चाहा था। पर धृष्टद्युम्न ने कहा कि इसका वध करने से क्या लाभ होगा? फिर भी सात्यकि मुझे मारने पर तुला हुआ था। इस पर व्यासजी ने उसे रोककर कहा कि इसे छोड़ दो और धृतराष्ट्र के पास वापस जाने दो। इस तरह मैं मृत्यु-मुख से बच पाया हूँ। पर महाराज, आपको क्या हो गया? आपका चित्त विक्षिप्त हो गया है, ऐसा लगता है।" दुर्योधन ने कहा, "संजय, अवश्य ही मेरी बुद्धि विक्षिप्त हो गयी है। मैं अत्यंत दुःख और क्लेश के आक्रमण से तड़फड़ा रहा हूँ। अब तो मेरी मृत्यु पर शोक करनेवाला भी कोई नहीं रहा। केवल मेरा पिता और तुम हो, जो मेरे लिए विलुप करोगे। संजय, तुम जाकर मेरे पिता से कहो कि दुर्योधन सरोवर की गहराई में शयन कर रहा है। उसका शरीर अग्नि की तरह तप्त है, इसलिए शीतल जल के तल में लोटकर शांति ले रहा है। मुझे अब जीना नहीं है। पिता से मेरी ओर से क्षमा-याचना करना। मेरा उन्हें नमस्कार कहना। पिता ने सदा ही मेरा दुलार किया। इसलिए वह अवश्य ही मुझे क्षमा कर देगे। मेरी माँ से कहना कि मैं ऐसी बड़ी विदुषी माता के योग्य

पुत्र नहीं हूँ। कहना, मैंने किसी के सामने सिर नहीं झुकाया, पर अपनी माता के चरणों में मेरा सिर नमन होता है। कहना कि मैं भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि अगले जन्म में भी मुझे गांधारी-जैसी ही माता मिले।” यह कहकर दुर्योधन सरोवर में डुबकी लगा गया और संजय भी वहाँ से विदा हुआ।

वापस जाते समय रास्ते में संजय को अश्वत्थामा, कृतवर्मा और कृपाचार्य मिल गये। उनको संजय ने सारा वृत्तान्त सुनाया। इसे सुनकर अश्वत्थामा दुःखी होकर कहने लगा, “दुर्योधन को पता नहीं है कि हम तीन अभी जीवित हैं और अब भी पांडवों को परास्त कर सकते हैं। इसलिए उसे निराश नहीं होना चाहिए।”

इधर पांडवों की ओर से दुर्योधन की बड़ी खोज-पड़ताल चल रही थी। पांडव जानते थे कि दुर्योधन कायर नहीं है। पर उसका हुस्न क्या? उन्होंने चारों ओर दुर्योधन का पता लगाने के लिए गुप्तचर प्रेषित किये।

संध्या समय कृपाचार्य इत्यादि उस सरोवर के तट पर पहुँचे, जिसके तल में दुर्योधन विश्राम कर रहा था। वहाँ पहुँचकर उन्होंने दुर्योधन को पुकारकर कहा, “महाराज, आप इतने व्यथित क्यों हैं? हम तीन अब भी जीवित हैं, और पांडवों को हरा सकते हैं। आप बाहर आइए और युद्ध में प्रवृत्त होइए।” दुर्योधन ने इनकी आवाज सुनी तो हर्षित होकर कहने लगा, “हे वीरो! तुम जिंदा हो, यह मुझे पता नहीं था। अब संध्या हो चुकी है और मैं अत्यंत पीड़ित हूँ, इसलिए कल प्रातःकाल बाहर निकलूँगा, और तब जाकर हम सब पांडवों से लड़ेंगे।”

इस अवसर पर उस सरोवर में पानीपीने के लिए कुछ व्याध आये हुए थे। उन्होंने इस वार्तालाप को सुना तो भट पांडवों के पास पहुँचकर उन्हें खबर दी और जहाँ दुर्योधन विश्राम ले रहा था उस स्थान का पता भी पांडवों को बताया।

भीम ने यह सारी कथा सुनी, तो हर्ष के मारे उन्मत्त हो गया। युधिष्ठिर ने भी उन व्याधों से सारी कथा सुनी। पांडव अब अपने बच्चे-सूचे योद्धाओं को लेकर द्वैपायन सरोवर पर पहुँच गये जहाँ दुर्योधन घिपा हुआ था। धृष्टद्युम्न, सात्यकि, द्रौपदी के पुत्र युधामन्यु, उत्तमौजा और शिखंडी भी पांडवों के साथ द्वैपायन सरोवर पर पहुँचे। श्रीकृष्ण उन सबके साथ थे।

संध्या हो चली थी। अश्वत्थामा और दुर्योधन के अन्य साधियों ने पांडवों को आते देखकर दुर्योधन से कहा, “महाराज, पांडव आ रहे हैं, इसलिए हम सब यहाँ से दूर हट जाते हैं।” ऐसा कहकर वे सब एक वट-वृक्ष के नीचे बैठकर मंत्रणा करने लगे।

सब शोकाच्छादित थे। क्या अब पांडवों से युद्ध होगा? दुर्योधन क्या करेगा? इसी संकल्प-विकल्प में शोकातुर होकर वट-वृक्ष के नीचे वे सब बैठ गये।

युधिष्ठिर सरोवर के पास पहुँचकर कृष्ण से कहने लगे, “कृष्ण, दुर्योधन यहाँ घिपा पड़ा है। पर अब हम उसको जीवित नहीं रहने देंगे।” यह कहकर उसने दुर्योधन को आवाज दी और कहा, “प्रिय दुर्योधन, अपने सब स्वजनो को मरवाकर अब तुम सरोवर में घिपे बैठे हो, यह तुम्हें शोभा नहीं देता। बाहर निकलो और हम सबों से युद्ध करो। तुम्हारा अभिमान कहाँ चला गया, जो अब तुम इस तरह की कायरता दिखा रहे हो? तुम क्षत्रिय हो। तुम वीर कहलाते आये हो। पर तुम्हारा यह आचरण बताता है कि तुम कापुरुष हो। तुम्हारा यह पाप तुम्हें स्वर्ग जाने से वंचित रखेगा। सबको मरवाकर अब जीवित रहने की इच्छा करते हो, इससे बड़ा पाप और क्या होगा। शकुनि गया, कर्ण गया। तुमको सदा से अपने शौर्य का अभिमान रहा है। इसलिए अब घिपते क्यों हो? बाहर निकलो और युद्ध करो। अगर तुमने हमें पराजित कर दिया, तो तुम पृथ्वी के

स्वामी बनोगे। यदि तुम मर गये तो स्वर्ग जाओगे। इस-
लिए दुर्योधन, कायर मत बनो। बाहर निकलो और अपना
पुरुषत्व साबित करो।”

दुर्योधन ने इस भत्सना को सुना, तो उसे क्रोध आ
गया। उत्तर में उसने युधिष्ठिर से कहा, “युधिष्ठिर, इस
निरर्थक बकवास को बंद करो। मैं उरकर रण से नहीं
भागता हूँ। सारे बंधु-बांधवों का नाश देखकर मैं अत्यंत दुःखी
हो गया था। मेरा घोड़ा भी घायल हो गया था। वही मुझे
यहाँ ले आया, किंतु यहाँ आते-आते वह मर गया। इस
सरोवर को देखकर मैंने सोचा कि इसमें मुझे कुछ शांति
मिलेगी। इसीलिए इस जल में शीतल होने के उद्देश्य से ही
मैं यहाँ प्रविष्ट हुआ हूँ। मैं भयभीत नहीं हूँ। मुझे जीवन
की भी अब आकांक्षा नहीं है। तू भी थके-माँदे हो। मुझे
भी कुछ स्वस्थ होने दो और तू भी विश्राम कर लो। मैं
स्वस्थ होकर कल अग्रिम तुम सबसे युद्ध करूँगा।”

युधिष्ठिर ने कहा, “दुर्योधन, तुम हमारी चिंता मत
करो। हम लोगो को विश्राम की कोई आवश्यकता नहीं है,
इसलिए बाहर निकलो।” दुर्योधन ने कहा, “युधिष्ठिर, मुझे
न तो अब जीवन का मोह है, न राज्य की लालसा। मेरे बंधु-
बांधव सब परलोक चले गये। मुझे अब इस पृथ्वी में भी
कोई आकर्षण नहीं रहा है। तो भी तुम्हारा अभिमान चूर
करने के लिए मैं निश्चय ही लड़ूँगा। भीष्म गये, द्रोण और
कर्ण भी गये। अब तुम इस वीरान् भूमि को भोगो। मुझे कोई
ईर्ष्या नहीं है। मैं तुम्हें इस राज्य का दान भी करने को
तैयार हूँ और स्वयं वल्कल और मृगचर्म ओढ़कर वानप्रस्थी
भी होने को तैयार हूँ। भोगो युधिष्ठिर, इस विधवा भूमि को
तुम भोगो।”

युधिष्ठिर को यह वचन कटु लगे। क्रोध में आकर
युधिष्ठिर ने कहा, “दुर्योधन, तुम्हारी यह दिठायी कैसी लज्जा-
विहीन है कि तुम मुझे राज्य-दान करने की उँग हाँकते हो। मैं

क्षत्रिय हूँ। मुझे तुम्हारा दान नहीं चाहिए। शत्रु से मुझे कोई
दान नहीं लेना है। मैं तो तुम्हें पराजित करके ही इस राज्य
को भोगूँगा। एक समय था, जब तुम सारी पृथ्वी के स्वामी
थे। जो हमारी भूमि थी उसमें से भी हम सबको निर्वासित
होने के लिए तुमने बाध्य किया। अज्ञातवास से वापस आकर
जब हमने अपना अधिकार वापस माँगा, जो न्याय-संगत
था, उस समय तुम्हारी उदारता कहीं लप्त हो गयी थी?

“हमने द्रुत बनाकर कृष्ण को भी तुम्हारे द्वार पर
भेजा। उस समय तुमने कहा कि सूई की नोक टिके उतनी
भूमि भी तुम देने को तैयार नहीं हो। अब अचानक तुममें यह
उदारता कहां से टपक पड़ी? लगता है कि तुम्हारा विवेक
नष्ट हो चुका है। दुर्योधन, एक शिखर का महाराजा, जो
पाँच गाँव भी देने को तैयार नहीं था, अब सारी भूमि हमें
दान करने पर उतार हो गया। कैसा आश्चर्य है।

“महाराजा दुर्योधन, आपके पास राज्य है ही कहां जो
आप हमें दान करना चाहते हैं? आप इस तरह युद्ध से उर-
कर छिटकना चाहते हैं, यह कायरता है। बाहर आइए और
युद्ध कीजिए। हमारा नाश करने के लिए आपने एक नहीं
अनेक पाप-कर्म किये। अनेक कुकृत्य किये। अब पराजित
होकर उदारता की उँग हाँकते हो और मृत्यु से छिटकना
चाहते हो। यह अब नहीं होने का। हम विजेता हैं। अब हम
केवल आपकी मृत्यु चाहते हैं। युद्ध के द्वारा रण-शैया पर
मृत होकर ही आप स्वर्ग जा सकते हैं। इस स्वर्ग-द्वार तक
पहुँचने का मैं आपको अवसर देता हूँ। भागिए मत। आइए,
आइए, युद्ध कीजिए।”

दुर्योधन ने इतने अपमानजनक शब्द आज तक कभी
नहीं सुने थे। शब्द-बाणों से घायल होकर वह उद्दिग्ध हो
उठा। अभिमानी दुर्योधन ने यह कभी नहीं सोचा था कि
युधिष्ठिर जैसा एक सौम्य पुरुष भी इतना उग्र हो सकता
है। दुर्योधन हाथ मलने लगा। उसने चाहा था कि एक रात्रि

मात्र का 'उसको विश्राम मिल जाये। पर वह इससे भी वंचित रहा। युधिष्ठिर के तीखे वचनो ने 'उसके हृदय को बेध डाला। वह घुटपटाने लगा।

दुर्योधन ने कहा, “युधिष्ठिर, तुम धर्मात्मा बनने का दावा करते हो, पर सबके सब मिलकर मुझ अकेले से युद्ध करने को प्रवृत्त हो, न मेरे पास रथ है, न कोई सैनिक है। मैं घायल हूँ। तो भी तुम सब मिलकर मुझ अकेले को चुनौती दे रहे हो। मैं तुममें से किसी से भी नहीं उरता। मुझे दुःख सिर्फ इस बात का है कि तुम सब मिलकर एक निहत्थे वीर का वध करने पर उतारू हो। अंत में मनुष्य के साथ धर्म ही चलता है, पर क्रोध के वश होकर उस धर्म को भी तुम त्याग रहे हो। पर खैर, इसका परिणाम तुम भोगोगे। मुझे कोई चिंता नहीं है। मैं क्षत्रिय हूँ। कुरु-वंश में जनमा हूँ। मैं निहत्था ही तुम सबसे लड़ने को तैयार हूँ। मैं मर गया, तो भी अच्छा ही है। जो मुझसे पहले ही स्वर्ग पहुँच गये हैं उन सबसे मेरी स्वर्ग में भेंट होगी उसका भी मुझे चाव है। मैं राधेय से मिलने को बड़ा उत्सुक हूँ। तुम्हें क्या पता कि राधेय एक उच्च आत्मा को लेकर पृथ्वी-तल पर चलता था। यदि तुम सबको मैं युद्ध में मार भी डालूँ, तो भी मैं

अंत में अपना वध मैं स्वयं ही कर डालूंगा। मुझे राधेय से मिलने की तीव्र उत्कंठा है। लो, मैं अब बाहर आता हूँ।”

जैसे छिपा हुआ सूर्य बादल की ओट से निकलता है वैसे ही दुर्योधन जल से बाहर निकल आया। उसका सौंदर्य उस समय अद्भुत था। उसका तेज उग्र था। उसकी बलिष्ठ भुजाओ को देखकर युधिष्ठिर प्रसन्न होकर बोला, “दुर्योधन, मुझे गर्व है कि तुम, मेरे भाई, कायर नहीं निकले। मैं अत्यंत प्रसन्न हूँ। कौरव-कुल के तुम गौरव हो। तुम वीर हो। आत्मसम्मान के रंग में रंगे हो। तुमने अपने जीवन और यश को उज्ज्वल किया है।

“प्रिय दुर्योधन, तुम क्षत्रिय हो और क्षत्रिय का आचरण कर रहे हो। तुम अकेले ही हम सबको युद्ध के लिए ललकारते हो, यह तुम्हें शोभा देता है। पर यह अधर्म मुझसे नहीं बनेगा। हम सब तुम अकेले से युद्ध नहीं करेंगे। तुम हमसे से किसी एक से जिससे चाहो लड़ लो। जो शस्त्र तुम्हें प्रिय हो वही शस्त्र ले लो। यदि जय तुम्हारी है, तो यह पृथ्वी तुम्हारी है। यदि तुम मर गये, तो स्वर्ग-द्वार तुम्हारे लिए खुला है।”

भीम द्वारा दुर्योधन का वध

दुर्योधन को जब किसी एक से युद्ध करने का युधिष्ठिर ने आह्वान किया तो कृष्ण को युधिष्ठिर की यह नादानी अप्रिय लगी। पर युधिष्ठिर अपने प्रण का पक्का था। जो कह दिया सो कह दिया, उससे हटने का नहीं था।

पर दुर्योधन भी उच्च सपदा का क्षत्रिय था। युधिष्ठिर की यह महानता देखकर भावना के वश विह्वल हो गया। उसने कहा, “प्रिय युधिष्ठिर, मेरे इस जीवन के अस्ताचल में हम सब मित्र बनने जा रहे हैं। मैं तुम्हारे इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार करता हूँ। तुम कहते हो, मैं चाहूँ सो शस्त्र ग्रहण करूँ। पर तुम जानते हो कि सब शस्त्रों में मुझे गदा ही अत्यंत प्रिय है। यही मेरी मित्र रही है। मैं अंत समय तक गदा से मैत्री रखूँगा। मैं तुम सबसे युद्ध करने को तैयार हूँ और एक-एक करके मैं तुम सबको समाप्त करने की शक्ति रखता हूँ। मैं अब तैयार हूँ।”

युधिष्ठिर को दुर्योधन का यह कथन प्रिय लगा। उसने दुर्योधन से कहा, “तो फिर मुझसे ही लड़ लो, ताकि तुम्हारा वध करके मैं ही अपने हाथों से तुम्हें स्वर्ग भेज दूँ।” दुर्योधन के चेहरे पर तेज टपक रहा था। सिंह की तरह गरजते हुए उसने कहा, “जिससे तुम चाहो मैं उसी से भिड़ लूँगा।”

कृष्ण को युधिष्ठिर की यह चुनौती मूर्खतापूर्ण लगी। उन्होंने कहा, “युधिष्ठिर, क्या मूर्खता कर रहे हो। तुम्हारी इतनी शक्ति नहीं है कि तुम दुर्योधन को जीत लो। केवल एक भीम है, जो गदा-युद्ध में दुर्योधन-जैसा ही है। पर शक्ति में वह भी दुर्योधन से हलका है। कहीं दुर्योधन तुम्हारी चुनौती स्वीकार कर ले और तुमसे भिड़ंत हो जाये, तो सारी विजय चौपट हो जायेगी।” पर भीम ने कहा, “कृष्ण, कोई

चिंता की बात नहीं है, दुर्योधन से मेरा ही युद्ध होगा, और मुझे निश्चय है कि वह मेरे ही हाथों मारा जायेगा।” भीम के यह वचन सुनकर कृष्ण को सतोष हुआ।

इसके अनंतर भीम ने दुर्योधन को ललकारकर कहा, “दुर्योधन, हमारा युद्ध तो अब तुम्हारे और मेरे बीच ही सीमित है। पुरानी घटनाओं की याद करो। बारणावत की याद करो। कपट-चूत की याद करो। द्रौपदी को अपमानित किया, उसकी भी याद करो। तुम तो इन सब बातों को भूल गये, पर मैं नहीं भूल सकता। तैयार हो जाओ। मेरे हाथ ही तुम्हारा वध होनेवाला है।” भीम के वचन कठोर थे, क्रोध से लिप्त थे। दुर्योधन ने भीम की ओर व्यंग्यपूर्वक दृष्टि डालकर कहा, “भीम, बक-बक क्यों करते हो। वचनों से तुम्हारा पराक्रम सिद्ध नहीं होता, कुछ करके दिखाओ। बहुत समय से मैं इस अवसर की बात देख रहा था। गदा-युद्ध में इन्द्र भी मेरे सामने नहीं ठहर सकता। पाँचों में तम्हीं एक हो, जो मुझसे युद्ध करने की शक्ति रखते हो। चलो, तो आ जाओ।”

युधिष्ठिर ने कहा, “दुर्योधन, कवच लगा लो, अपने केशों को भी बाँध लो, और भी तुम्हें युद्ध के लिए जो आवश्यक हो सो ले लो।” दुर्योधन युधिष्ठिर के ये वचन सुनकर गद्गद हो गया। आँखों में आँसू भर गये। उसने अपना सुवर्ण कवच पहन लिया। मुकुट भी सिर पर रख लिया। सूर्य के प्रकाश में दुर्योधन ऐसा लगा, जैसे अस्ताचल का सूर्य लाली के प्रचंड तेज के साथ अस्त हो रहा हो।

युद्ध आरंभ होने ही वाला था कि बलरामजी वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने नारद से सुना था कि उनके दोनो शिष्यों में गदा-युद्ध होनेवाला है। दुर्योधन उनका विशेष प्रियपात्र शिष्य था। इसलिए उनके आगमन से दुर्योधन को अत्यंत

प्रसन्नता हुई। बलरामजी ने कहा, “मैं अभी-अभी तीर्थाटन करके लौट रहा हूँ। मैंने सुना है कि तुम दोनों में गदा-युद्ध होनेवाला है। समंतपंचक नाम का तीर्थ यहाँ से अत्यंत निकट है। वहाँ जो मरता है, सीधा स्वर्ग जाता है। इसलिए मेरी राय है कि तुम दोनों के बीच युद्ध वहीं होना चाहिए।” युधिष्ठिर ने कहा, “आपकी यह राय अत्युत्तम है, हम इसे सहर्ष स्वीकार करते हैं।”

इस पर सब समंतपंचक की ओर चल पड़े। दुर्योधन अत्यंत प्रसन्न था। बलरामजी की उपस्थिति से उसका साहस और भी बढ़ गया। कृष्ण, बलराम, साह्यकि इत्यादि सभी समंतपंचक की ओर चल पड़े।

दोनों योद्धा आमने-सामने दृढ़ता से उटकर खड़े हुए। यह एक अद्भुत दृश्य था। दोनों भाई और दोनों ही बलराम जी के शिष्य। दोनों एक-दूसरे को मारने पर उतारू। यह दृश्य अद्भुत और अत्यंत शोकजनक था। दो वीर और सुन्दर योद्धा। इनमें से एक की मृत्यु अवश्यंभावी थी।

दुर्योधन ने युधिष्ठिर से कहा, “आप सब सज्जन बैठ जाइए, यह युद्ध आप सबके लिए बड़ा प्रेरक होगा। आप सब हमारे प्रियजन हैं। इसलिए यह युद्ध भी सबके लिए सुखद ही होगा।”

युद्ध शुरू हुआ। दोनों ही बलशाली थे। घोर युद्ध के बाद दोनों को थकान महसूस हुई। इसलिए कुछ समय के लिए दोनों ने विश्राम किया। फिर पूरी शक्ति से एक-दूसरे पर गदा-प्रहार शुरू हुआ। ऐसा लगने लगा, मानो युद्ध का अंत बिना किसी निर्णय के ही रहेगा। युद्ध चल रहा था, तब अर्जुन की घुटपटाहट शुरू हुई। उसने कृष्ण से पूछा, “क्या देख रहे हो?” कृष्ण ने कहा, “दोनों ही शक्तिशाली हैं, पर दुर्योधन का पलड़ा भारी लगता है। यदि धर्मयुद्ध चलता रहा, तो दुर्योधन को कोई नहीं हरा सकता। भीम को यदि दुर्योधन को मारना है, तो उसे न्याय के पथ से

हटना पड़ेगा। युधिष्ठिर ने चुनौती देकर बुद्धिमत्ता नहीं की। दुर्योधन प्राणों की बाजी लगाकर लड़ रहा है। उसकी युद्ध-कला अत्यंत प्रशंसा के योग्य है। पर अब इस युद्ध का किसी भी तरह अंत करना ही चाहिए।”

भीम की दृष्टि एक क्षण के लिए अर्जुन की ओर मड़ी, तो अर्जुन ने अपनी जाँघ पर धपकी लगायी। इस संकेत को भीम समझ गया। भीम की प्रतिज्ञा थी कि वह दुर्योधन की जाँघ तोड़कर उसे मारेगा। युद्ध में दोनों वीर कला-कौशल-पूर्वक लड़ रहे थे। भीम ने दुर्योधन के वक्षस्थल पर गदा चलायी, पर दुर्योधन बड़ी फुर्ती से कुदकर ऊँचा उछल गया। दो-तीन बार यह चाल चलती रही, पर तीसरी बार जब दुर्योधन अपने वक्षस्थल पर प्रहार बचाने के लिए उछला, तो भीम का प्रहार उसकी जाँघ पर पड़ा।

दुर्योधन की जाँघ टूट गयी, और वह बेकार होकर धरती पर गिर पड़ा। घायल सर्प की तरह वह फुफ्फुकार मारने लगा।

दुर्योधन अन्याय से मारा गया। जाँघ पर प्रहार करना धर्म-युद्ध के नियमों के विपरीत था। इस अन्याय से आकाश में हाहाकार मच गया। धरती काँप उठी। भीम ने प्रतिज्ञा की थी कि वह दुर्योधन की जाँघ तोड़ेगा। यही कहकर उसने द्रौपदी को सात्वना दे रखी थी। चौहद वर्ष के बाद अब यह प्रतिज्ञा उसने पूरी की।

वह धराशायी दुर्योधन के सिर पर पाँव रखकर उसे ठुकराने लगा।

युधिष्ठिर दौड़कर बीच में आ गये, और भीम को वहाँ से पकड़कर अलग घसीट लाये। कहने लगे, “भीम, यह कुकृत्य मत करो। तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी हो चुकी। अब इस बँर का अंत करो। दुर्योधन का अब अपमान न करो। दुर्योधन राजा है। ग्यारह अक्षहिणी का वह सेनानायक था। वह सब कुछ खो चुका। मैं दुर्योधन को अब अपमानित नहीं होने दूँगा।”

युधिष्ठिर की आँखें आँसुओं से उबड़बा आयीं। दुर्योधन के पास जाकर वह कहने लगा, “दुर्योधन, जो कुछ हुआ उसमें हमारा कोई दोष नहीं, पर तुम्हें इस अवस्था में देखकर मुझे पीडा होती है, तुम स्वर्ग को जानोगे। महाराज दुर्योधन, तुम्हें मेरा नमस्कार।”

बलराम भीम पर अत्यंत क्रुद्ध होकर कहने लगे, “भीम, तुम्हें धिक्कार है। तुमने दुर्योधन को अन्याय से मारा है। तुम्हारे गुरु पर भी यह कलंक है। मैं अब तुम्हें मारकर ही इस कलंक को दूर करूँगा।” यह कहकर बलराम भीम पर लपके। पर कृष्ण ने उन्हें पकड़ लिया और कहने लगे, “बलराम भैया, क्रोध को छोड़ो। भीम ने धर्म के नियमों का अवश्य उल्लंघन किया, पर आप यह भूल जाते हैं कि दुर्योधन ने पांडवों से वधा-क्रिया अन्याय का बर्ताव किया था। पांडव युद्ध नहीं चाहते थे, मैं स्वयं उनका दूत बनकर हस्तिनापुर गया था। मैंने पूरा प्रयत्न किया था कि युद्ध न हो। पर मैं विफल हुआ। मरी सभा में द्रौपदी के केशपकड़कर उसको घसीटा गया। क्या कोई आत्म-सम्मान रखने-वाला इस कुकृत्य को सहन कर सकता है?”

“दुर्योधन की जघरों उसी समय विदीर्ण हो जानी चाहिए थी, जब उसने द्रौपदी का अपमान किया, पर यह विलुप्त युधिष्ठिर की सहिष्णुता के कारण हुआ। भीम ने केवल अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया है। तुम दुर्योधन के प्रति किये गये अन्याय के कारण आग-बबूला हो गये। पर मैं पांडवों के प्रति किये गये अन्याय को बीस साल से देख रहा हूँ, और सहन कर रहा हूँ। इसलिए तुम्हारा यह क्रोध पक्षपात का दिग्दर्शन है।”

बलराम अब कुछ ठंडे हुए, पर सतुष्ट नहीं हुए। कृष्ण फिर बोले, “बलराम भैया, काल का प्रवेश हो चुका, अब युद्ध में शुद्ध न्याय की आशा करना निरर्थक है। काल-धर्म अपना प्रभाव डाल रहा है। विधि की कति अद्भुत है। विधि

साध्य की उपलब्धि के लिए साधन को महत्व नहीं देती, इसलिए क्रोध को शांत करके विधि ने जो कुछ किया उसे स्वीकार करो।”

किंतु बलराम को संतोष नहीं हुआ। दुर्योधन को आशीष देकर पांडवों से विदा लिये बिना ही बलराम द्वारिका को चल दिये। कृष्ण को इसका क्षोभ नहीं हुआ। बलराम गये तो बला टली, यह मानकर संतोष किया।

बेचारा भीम चारों ओर से धर्म-युद्ध के उल्लंघन की आवाज और भर्त्सना से कुछ हतभी-सा हो गया था। कृष्ण को भीम को संभालना उचित लगा।

भीम सोच रहा था कि मैंने जो प्रतिज्ञायें की थी कि दुर्योधन की जंघा विदीर्ण करके द्रौपदी के प्रति किये गये अपमान का बदला लूँगा, यह सबको विदित था। पर अब मैंने यह प्रतिज्ञा पूरी की, तो सबने डाँट-उपट शुरू कर दी। आखिर अर्जुन के संकेत से ही तो मुझे दुर्योधन की जंघ पर प्रहार करने की प्रेरणा मिली थी। अब अर्जुन भी तटस्थ होकर खड़ा है। कृष्ण जान गये कि भीम के हृदय में विचारों का यह तूफान चल रहा है। भीम के सताप से उनकी सहानुभूति थी। वह भीम के पास गये और स्नेहपूर्वक उसका हाथ पकड़कर कहने लगे, “भीम, मैं तुम्हारे कार्य का संपूर्ण समर्थन करता हूँ। तुमने जो प्रतिज्ञा की थी उसका यथावत् पालन किया।” युधिष्ठिर ने भी भीम की ओर प्रेम-दृष्टि डाली। अब तो भीम गद्गद हो गया।

वह युधिष्ठिर के पांवों में सिर टेककर रोने लगा और कहने लगा, “महाराज, अब यह पृथ्वी आपकी है। मेरा युद्ध अब समाप्त होता है। अब इस पृथ्वी को भोगिए। द्वेष का यह अध्याय अब समाप्त हुआ। अब से द्रौपदी भूमि पर न सोकर पलंग पर सोयेगी। जो मैंने वादा किया था वह पूरा हुआ। अब आपका आशीर्वाद चाहता हूँ।” युधिष्ठिर ने भीम को उठाकर गले लगा लिया। बलराम के क्रोध से जो वाता-

वरण में तनाव आ गया था वह अब समाप्त हुआ।

सभी पाउव भीम के प्रति सहानुभूति दिखाकर उसे साधुवाद देने लगे। अब कृष्ण को कुछ कहने की आवश्यकता हुई। कृष्ण ने कहा, “मरे को मारना निरर्थक है। दुर्योधन ने किसी के भी सदुपदेश को नहीं माना। पाप का फल उसे मिल गया। अब सबको यहाँ से चल देना चाहिए।”

दुर्योधन यह सब सुन रहा था, उसने कहा, “कृष्ण, सुनो, इस सारे कुकृत्य के दोषी तू ही हो। तू सचमुच चाहते तो यह कुकृत्य कभी न होता। पर तूने ही धर्म-युद्ध के विपरीत कुकृत्य करने के लिए पाउवों को प्रेरणा दी।

“तू जानते हो, कौरवों ने धर्म-युद्ध का संपूर्णतया आचरण किया। इसके विपरीत पाउवों ने हर कदम पर धर्म से हटकर अधर्म का आचरण किया, उसके लिए दोषी भीम नहीं, तू ही। मैं तुम्हारी सारी चालबाजी देख रहा था। भीम ने तुम्हारे इशारे पर ही मुझ पर प्रहार किया। शिखंडी को सामने लाकर, पितामह को तुम्हीं ने पाप से मरवाया। द्रोण को भी युधिष्ठिर से असत्य का आचरण कराके तुम्हीं ने मरवाया। कर्ण को भी अनीति से मरवानेवाले तुम्हीं हो। जरासंध को तुमने कपट से मरवाया। इसलिए कृष्ण, सारे पापकर्म के जनक तुम्हीं हो। यदि युद्ध में धर्म के नियमों का पालन होता, तो पाउवों की विजय असंभव थी, इसलिए पापी मैं नहीं, तू ही, जिसने सारे युद्ध के नियमों का उल्लंघन किया।”

कृष्ण ने दुर्योधन के क्रोधयुक्त वचन सुनकर कुछ आवेश के साथ कहा, “दुर्योधन, सुनो। कौरवों के विनाश का पाप तुम्हारे सिर पर है। भीष्म गये, क्योंकि तुम्हारी पाप-बुद्धि का उन्होंने विरोध नहीं किया। आचार्य द्रोण को हस्तिनापुर छोड़कर वन में चले जाना चाहिए था। उन्होंने भी तुम्हारा साथ देकर पाप मोल लिया। कर्ण ने तुम्हारे पाप को जानते हुए भी तुम्हारा समर्थन किया। इसी के कारण

इन सबको मरना पड़ा।

“तुम्हारे सारे बंधु-बाधव भी तुम्हारे अधर्म का समर्थन करने के कारण ही गये। इसलिए इन सबकी हत्या का दोष तुम्हारे सिर पर है। तू इस गृह-कलह का दोष मुझ पर डालते हो। पर क्या यह भूल गये कि मैंने पाउवों का दूत बनकर शांति-स्थापन के लिए तुम्हारी सभा में आकर अंत में केवल पाँच ग्राम तुमसे मागे थे। पर इस पर भी तू लोभ और अहंकार के वश होकर ‘ना’ पर उठे रहे। जो अहंकार और द्वेष का बीज तूने बोया, जिसको दृ. शासन और शकुनि ने सींच-सींचकर पोसा, उसका फल विनाश के सिवा और क्या हो सकता था। इसलिए तुम्हारी मृत्यु का मुझे कोई शोक नहीं है। जैसा तूने बोया, वैसा ही भोगा। क्यों वृथा प्रलाप करते हो।”

दुर्योधन ने मद हाथपूर्वक निस्पृह होकर कृष्ण की ओर दृष्टिपात करते हुए कहा, “कृष्ण, मैंने वेद पढ़े हैं। मैंने प्रचुर दान-पुण्य किया है। मैंने अनेक प्रकार के यशस्वी कार्य किये हैं। इस भूमि का मैंने न्यायपूर्वक शासन किया है, भोग भोगे हैं। मैं जीवन-भर भाग्यशाली रहा हूँ। यदि मेरा अतीत सुखमय रहा है तो भविष्य भी सुखमय होगा। जिस स्वर्ग में मेरे बंधु-बाधव और हितंशी पहुँच गये, वही सब मैं जा रहा हूँ। वहाँ राधेय से जो मेरा अत्यंत प्रिय पात्र है, मेरी भेंट होगी। अधीर होकर उस मिलन की मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ। मैं भाग्यशाली रहा, और भाग्यशाली होकर ही स्वर्ग जाता हूँ। इस देखी ससार का मैं पाउवों के लिए छोड़ जाता हूँ।

“भीम ने मेरे सिर पर पाव रखा, इसका मुझे कोई शोक नहीं है। थोड़ी देर बाद तो कौन और गिद्ध मेरी बोटी-बोटी खा जायेंगे।”

दुर्योधन ने जब यह वाक्य कहे, तो आकाश से पुष्प-वृष्टि हुई। स्वर्गवासियों ने जब दुर्योधन के इन वाक्यों का

अनुमोदन किया, तब पांडवों का सिर लज्जा से झुक गया।

कृष्ण को इस पर क्रोध आया। गरजकर उन्होंने कहा, “लोगो सुनो, कौरव दल के बड़े-बड़े बलवान महारथी अवश्य ही छल-कपट से मारे गये हैं। भीष्म पितामह आदि सबके-सब क्षत्रिय वश के मोरमुकुट थे। उन्हें हरा देना कोई आसान कार्य नहीं था। इनका वध असंभव था। भीष्म को इच्छा-मरण का वरदान था। पांडवों के सारे धनुषबाण और दैवी शस्त्र इन महारथियों की शक्ति के सामने तुच्छ थे। क्या न्याय-युद्ध में भीष्म, द्रोण, कर्ण और दुर्योधन का वध संभव था? तो भी जन-कल्याण के लिए इन सबकी मृत्यु वांछनीय थी।

“भरी सभा में द्रौपदी को नग्न करने का प्रयास घोर पाप था। मैंने प्रतिज्ञा की थी कि इस अन्याय का मैं नाश करूँगा। भीष्म उस समय उपस्थित थे, पर मौन थे। क्यों मौन रहे? वे जानते थे कि पाप हो रहा है, फिर भी उन्होंने अंगुली तक नहीं उठायी। द्रोण पाप के साथी बन गये। कर्ण ने भी वही किया। इसलिए इस अन्याय को मिटाने की मैंने प्रतिज्ञा की थी। यह सही है कि इन सबको मैंने युद्ध में छल-कपट से मरवाया है। इसका दोषी केवल मैं हूँ। पर यह सब जन-कल्याण के लिए ही, धर्म-स्थापन के लिए ही मैंने किया है। मेरे जीवन का हेतु साधुओं की रक्षा करना, धर्म का संस्थापन करना और पाप का नाश करना था, वह हेतु पूरा हुआ। चलो अब यहाँ से।”

कौरवों का क्रोध ही पाप का मूल

महाभारत-युद्ध तो यहाँ समाप्त होता है। पर कृष्णावतार का हेतु अभी बाकी है। अंतिम अध्याय का भी अन्त होने-वाला हो है। धर्म-स्थापन के लिए अधर्म के मार्ग का अवलंबन करने का साहस केवल कृष्ण ही कर सकते थे। कर्म की गति गहन बतायी गयी है। इसलिए साधारणजन जिस कर्म को अज्ञान से अधर्म मानकर करता है वही श्रीकृष्ण के लिए धर्म था। क्योंकि धर्म की स्थापना उनके जीवन का हेतु था। कृष्ण को कर्मों में आसक्ति नहीं थी। इसलिए हरेक कर्म उनका धर्म था। पर इस भयंकर सिद्धांत का हर मनुष्य अपने जीवन में अवतरण करने का प्रयास करे, तो पाप का भागी होगा, क्योंकि अनासक्त पुरुष ही ऐसे सिद्धांत का प्रतिपादन या आचरण कर सकता है।

कृष्ण ने जब अर्जुन को युद्ध के लिए प्रोत्साहन दिया, तब अनासक्ति योग का ही उपदेश दिया। अनासक्त न तो किसी का वध करता है, न करवाता है। कृष्ण का यह वाक्य भागवत धर्म के सिद्धांत की ही पुनरुक्ति है।

दुर्योधन ने प्राण-विसर्जन के पहले, अश्वत्थामा द्वारा द्रौपदी के पुत्रों के विनाश का समाचार भी पालिया। आश्चर्य है कि इस समाचार को सुनकर उसको प्रसन्नता हुई और प्रसन्न होकर ही उसने प्राण त्यागे। द्वेष में अधर्म और धर्म के भेद को मनुष्य भूल जाता है।

कौरव-परिवार में पांडवों के प्रति द्वेष का अभी भी अंत नहीं हुआ। धृतराष्ट्र भी इस बर-बुद्धि को त्याग नहीं पाया। प्रकृति का नियम कुछ ऐसा विचित्र है कि पाप की सजा मिलने मात्र से ही मनुष्य की पाप-बुद्धि का अंत नहीं होता, बल्कि पाप-वृत्ति की सजा मिलने पर भी पाप प्रज्वलित ही होता रहता है। विवेक और विचार से ही पाप-बुद्धि का

अंत होता है। पर धृतराष्ट्र इस विवेक से, इतना कष्ट पाने पर भी, शून्य हो था।

दुर्योधन की मृत्यु के पश्चात् सब मृतकों की दाह-क्रिया समाप्त हो चुकी, तब युधिष्ठिर ने हस्तिनापुर में प्रवेश किया। धृतराष्ट्र तो आह और द्वेष के कारण अग्नि की तरह तपायमान था, पर जब युधिष्ठिर ने राजा बनकर धृतराष्ट्र को प्रणाम किया, तब कम-से-कम दिखावे के लिए धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को हृदय से लगाकर आलिगन किया। भीम भी युधिष्ठिर की तरह धृतराष्ट्र को अभिवादन करने के लिए आगे बढ़ना ही चाहता था, पर कृष्ण ने उसे रोक लिया। कृष्ण जानते थे कि धृतराष्ट्र भीम को कभी क्षमा करनेवाला नहीं है, इसलिए कृष्ण ने यहाँ भी चतुराई की। मल्लशालु में भीम की एक वज्र की बनी हुई मूर्ति थी, जिस पर दुर्योधन गदा-प्रहार करके प्रतिदिन अभ्यास किया करता था। कृष्ण उसे उठा लाये और धृतराष्ट्र के बाहुपाश में भीम के बदले उस मूर्ति को ही आगे कर दिया। धृतराष्ट्र ने यह समझकर कि वही भीम है, उसका आलिगन करके उस वज्र-मूर्ति के टुकड़े-टुकड़े कर डाले।

पर इस घटना के पश्चात् धृतराष्ट्र यह समझकर कि उसने भारी पाप-कर्म कर डाला है, अत्यंत विकल होकर जोर-जोर से विलाप करके कहने लगा, “हाय, मैंने क्रोध में भीम को मार डाला।” जब कृष्ण ने देखा कि धृतराष्ट्र का क्रोध शांत हो गया है, तब उन्होंने धृतराष्ट्र को असंलियत का ज्ञान कराके कहा, “महाराज, मैंने आपके क्रोध को पहचान लिया था, इसलिए भीम के बदले मैंने भीम की वज्र-मूर्ति ही आपके बाहुपाश में दकेल दी थी। आप शांत हो जाइए और आगे के लिए इस क्रोध-बुद्धि का त्याग

कीजिए। पांडवों को अपनी संतान मानकर 'उनसे पिता-तुल्य व्यवहार कीजिए।'

धृतराष्ट्र अब शांत हो गया। कहने लगा, "मैं अपनी भूल देख रहा हूँ, और सारे पांडव बंधुओं से मैं आलिग्न करना चाहता हूँ।" अब भीम भी निकट गया और धृतराष्ट्र ने प्रेमपूर्वक उसका आलिग्न किया। इसी तरह अर्जुन, नकुल और सहदेव का भी उसने आलिग्न किया।

पर गांधारी का क्रोध अब भी उबल रहा था। वह सब पांडव बंधुओं को शाप देना चाहती थी। उसकी मशा को ठ्यासजी समझ गये। इसलिए उसके निकट जाकर कहने लगे, "पुत्री, क्रोध पाप का मूल है, इसे त्यागकर तुम शांत हो जाओ। तुम्हारे पुत्र ने पाप के वशीभूत होकर द्वेषवश कुकृत्य किया, उसी का यह फल है।

"जब दुर्योधन युद्ध के पहले तुमसे आशीर्वाद माँगने आया था, तभी तुमने कहा था कि पुत्र, धर्म की ही जय होगी। तुम जानती थीं कि दुर्योधन का आचरण धर्म के विरुद्ध था, तुम जानती थीं कि उसकी पराजय होगी। तुम जो जानती थीं वही हुआ है, इसलिए अब क्रोध को त्यागो, पांडव क्रोध के पात्र नहीं हैं।"

गांधारी ठ्यासजी के वचन सुनकर कहने लगी, "पिताजी, मैं पांडवों पर क्रोध नहीं करती। पांडवों के साथ अन्याय हुआ था, और मेरा पुत्र ही उसका दोषी था। पर भीम ने कपट से दुर्योधन को मारा, दुःशासन के रक्त का पान किया, यह नृशंस कर्म था। इसी का मुझे क्रोध है।"

यह सुनकर भीम गांधारी के निकट आकर अत्यंत विनम्र भाव से कहने लगा, "माता, यह सत्य है कि मैंने धर्म से विचलित होकर दुर्योधन को हराया, पर दूसरा कोई रास्ता नहीं था। धर्म-युद्ध में दुर्योधन को इंद्र भी मार नहीं सकता था। तीनो लोक में उसकी बराबरी का कोई योद्धा नहीं था। वह अत्रेय था। पर उसने हम सबके साथ अत्यंत

अन्याय का बर्ताव किया था। इसलिए उसको मारना ही श्रेय था। मैंने उसकी जंघा पर प्रहार किया, यह न्याय के विपरीत था। पर माता, जब उसने द्रौपदी का अपमान किया, तभी मैंने यह प्रतिज्ञा की थी कि उसकी जंघा विदीर्ण कर दूँगा। कौरव सभा में जब द्रौपदी अपमानित हुई, तभी मैं उसकी जंघा तोड़ डालता, पर मुझे युधिष्ठिर ने रोक लिया था।"

गांधारी ने कहा, "भीम, और बातों के लिए तो मैं तुम्हें क्षमा करती हूँ, पर तुमने दुःशासन के रक्तपान का नृशंस कर्म क्यों किया?" भीम ने कहा, "माता, मैंने राक्षस बंद भी रक्त का पान नहीं किया, होठों से स्पर्श-मात्र किया था।"

गांधारी ने यह सब सुनकर भीम को भी क्षमा कर दिया। इसके बाद युधिष्ठिर हाथ जोड़े सामने आया, तो उस पर भी गांधारी ने क्रोध किया। क्रोध में शाप न दे बैठे, इसलिए मन को संयम में लाकर गांधारी ने अपना मुँह फेर लिया। आँखों पर पट्टी थी, पर पट्टी के नीचे से युधिष्ठिर के नाखूनों पर उसकी दृष्टि पड़ ही गयी, और परिणाम में युधिष्ठिर के नाखून काले पड़ गये। इन सब घटनाओं को देखकर अर्जुन ने तो गांधारी के निकट आने का साहस भी नहीं किया। गांधारी का तप और तेज इतना विलक्षण था, कि उसके शाप में इन सबको भस्म कर देने की शक्ति थी।

अतः मे द्रौपदी ने गांधारी का चरण-स्पर्श किया, तो इस पर तो गांधारी गद्गद हो गयी। द्रौपदी को अनेक प्रकार की सांत्वना देकर उसने उसे आशीर्वाद भी दिया।

पर जब कृष्ण समीप आये, तो गांधारी के क्रोध में यकायक फेर तूफान आ गया। क्रोध में आकर वह बोली, "कृष्ण, यह सब विनाश तुम्हारी लापरवाही से हुआ है। तुम चाहते तो यह गृह-कलह कभी नहीं होता। तुम निष्पक्ष नहीं थे। सुनो, जैसे तुम्हारी लापरवाही के कारण कौरव और

पांडवों का आपस में लड़कर नाश हुआ है, वैसे ही आज से छत्तीस साल के बाद तुम्हारे परिवार के लोग भी आपस में लड़कर मरेंगे। यह मेरा शाप है। यह अमिट है।”

कृष्ण को गांधारी के वचनों से क्रोध नहीं आया, बल्कि रिमंत हास्य के साथ उन्होंने कहा, “माता, तुमने यह शाप देकर मेरा ही कारण किया है। जिन बलियों के कारण न्याय का ह्रास हो रहा था, वे सभी इस युद्ध में समाप्त हुए। पर वृष्णि-वंश का बल भी अवांछनीय है। इनका ह्रास करने-वाला कोई बली इस समय संसार में नहीं है। इनका ह्रास तो गृह-कलह से ही हो सकता है। मुझे यही संकल्प-विकल्प दुःख दे रहा था। अब तुमने यह शाप देकर मेरा काम समाप्त कर दिया।

“पर गांधारी, मेरी लापरवाही का उल्लेख करके तुमने

मेरे साथ न्याय नहीं किया। मैं कौरवों की सभा में शान्तिदूत बनकर आया था, तब तुमने मुझे कौन-सी सहायता दी? तुम्हारा पुत्र पाप-कर्म में लिप्त था, उसकी मृत्यु वांछनीय और अवश्यभावी थी। तुमने भी दुर्योधन से यही कहा था कि धर्म तुम्हारे साथ नहीं है। इसलिए विजय पांडवों की होगी और वही हुआ। तुम्हारा क्रोध और मुझको उपालभ सारा-का-सारा अप्रस्तुत है। मैंने लापरवाही नहीं की, बल्कि युद्ध रोकने की भरपूर चेष्टा की। पर तुम्हारा पुत्र अहंकार के वश होकर पाप से निवृत्त नहीं हुआ, इसी का यह परिणाम है।” कृष्ण के इन वचनों को सुनकर गांधारी चुप रही।

श्रीकृष्ण के जीवन का हेतु अभी बाकी था। वह भी छत्तीस साल के बाद प्रभास-क्षेत्र में समाप्त हुआ।

जीवन का हेतु समाप्त होना ही देह-विसर्जन का सही समय

छत्तीस वर्षों के बाद यादवों में गृह-कलह आरंभ हुआ और सारे यदु-कुल का नाश हो गया। यह कलह साधारण-सी बात पर आरंभ हुआ। कृतवर्मा और सात्यकि दोनों शराब पीकर मदाध हो गये थे, आपस में कुछ बोलचाल हुई और एक-दूसरे पर झपट पड़े। इसके बाद कोई तो सात्यकि की, और कोई कृतवर्मा की ओर से दलबंदी करके एक-दूसरे को मारने लगे। इस आपस के संग्राम में सारा यदु-कुल समाप्त हो गया।

बलराम को इस घटना से अत्यंत वेदना हुई। वे समुद्र-तट पर जाकर समाधिस्थ होकर देह-विसर्जन की तैयारी करने लगे।

कृष्ण ने भी सोचा, मेरे जीवन का हेतु समाप्त हो गया है। मुझे भी अब जाना चाहिए।

संध्या हो चली थी। कृष्ण सोच रहे थे कि मेरे देह-विसर्जन का समय आ पहुँचा है, और यह विचार मन में आते ही बीते काल की स्मृतियाँ जाग्रत हो उठीं। मानस-पटल पर अतीत की आकृतियाँ एक-के-बाद एक प्रकाश में आने लगीं। गोकुल, बाल्यावस्था, यशोदा, नंद, तृणावर्त, अघासुर, गोवर्द्धन, कालियदमन, स्नेही गोप और गोपियाँ—यह सब मानसिक चक्षुओं के सामने एक-एक करके प्रकट होने लगे। लहर की तरह हर घटना मानस-चक्षुओं पर छाप डालती रही। एक आयी और गयी। फिर दूसरी आयी और वह भी गयी।

फिर मथुरा। व्रत जनता को कंस के अत्याचार से मुक्त किया।

प्रज्ञाचक्षुओं के सामने फिर नये-नये दृश्य आते रहे। अब पांडवों का चित्र सामने आया। उनके जीवन के दुख-

मय दृश्य सामने आने लगे।

फिर युद्ध। पृथ्वी के क्षत्रियों का नाश। दुर्योधन की मृत्यु। गांधारी का शाप।

गांधारी के शाप का फल देखने के लिए भी जीवित रहना आवश्यक ही था। अभिमन्यु की संतान गर्भ में थी, उसकी रक्षा करना भी आवश्यक था।

विचार करते-करते श्रीकृष्ण के मुखारविंद पर स्मित हास्य की रेखा छा गयी। अभिमन्यु की संतान की रक्षा दुस्तर कार्य था। पर वह भी सफल हुआ। पांडवों की अंत तक रक्षा की। अब बाकी क्या रहा? यात्रा समाप्त।

हाँ, एक चाह बाकी रह गयी। जाने से पहले अर्जुन से भेंट होनी आवश्यक है। वह तो बाकी रह ही गयी। हाँ, यह भी असंभव नहीं है। फिर स्मित हास्य। मन की लहर को अर्जुन के मन तक पहुँचाकर दो के मानसों का एकीकरण करना असंभव थोड़े ही है। कृष्ण शांत होकर बैठ गये।

अर्जुन हस्तिनापुर में था। कृष्ण के मन की लहर ने अर्जुन को जगाया। कृष्ण का मन अर्जुन के मन में प्रवेश करके रुक-रुक हो गया। वीणा के दो तार जब एक ही स्वर में गूँजते हैं, तो दोनों में एक ही तरह की झंकार निकलती है। वही हुआ। कृष्ण का मनोरथ सिद्ध हुआ।

अर्जुन हस्तिनापुर में अपने भवन में बैठा था। अचानक उसे कृष्ण की याद आयी। याद आते ही भीतर से ध्वनि निकली—“अर्जुन लेट जाओ, मुझे तुमसे कुछ कहना है।” अर्जुन लेट गया। सुषुप्त अवस्था में कृष्ण का मन अर्जुन के मन में प्रवेश कर गया। “अर्जुन, तुम्हें स्मरण है कि मैंने कहा था हम सब एक हेतु लेकर जन्मे हैं, और उस हेतु के समाप्त होते ही हम सब चले जायेंगे।” अर्जुन ने कहा,

“प्रभो ! मुझे अच्छी तरह स्मरण है। जब मेरा रथ जलकर भस्म हो गया था तभी आपने यह वाक्य कहे थे।” “अर्जुन, मेरे जीवन का कार्य अब समाप्त हो चुका, अंत में जाता हूँ। अर्जुन, हर प्राणी का, चाहे वह मनुष्य हो या पशु-पक्षी, यही नियम है। जीवन यह एक अद्भुत और अर्थगर्भित यात्रा है। जिसे हम जीवन कहते हैं, वह अर्थशून्य नहीं है। इसका कोई अर्थ होता है। पर प्राणी जब अपनी मंजिल पर पहुँच जाता है, तब वह अर्थ समाप्त हो जाता है। उसके जीवन के तात्पर्य का भी अंत आ जाता है। फिर उसका जाना भी अनिवार्य हो जाता है। यह प्रकृति का अटल नियम सभी प्राणियों के लिए व्यवस्थित है।”

अर्जुन ने कहा, “प्रभो ! क्या कहते हो। मैं कुछ समझ नहीं पाया।” कृष्ण ने कहा, “अर्जुन, धीरज रखो। शीघ्र ही समझ जाओगे। प्रस्थान करने के पहले मैं तुमसे मिलना चाहता था। अब हम दोनों मिल चुके। मेरी मनोकामना सफल हुई। मुझे संतोष हो गया।”

कृष्ण का मुखारविंद उस समय तेजोदीप्त था। उस समय जैसा उनका मुख था वैसा ही अर्जुन ने स्वप्न में भी देखा। दोनों अभिन्न मित्र मिल चुके। मन भी अभिन्न थे। विदा समाप्त हुई।

अब कृष्ण धीरे-से उठकर एकांत खोजने चले। वह समाधिस्थ होकर योगी की तरह देह-विसर्जन नहीं करना चाहते थे। उनका तो मनुष्य की तरह ही प्राण त्यागने का लक्ष्य था।

कृष्ण एक वृक्ष के नीचे लेट गये। एक व्याध निकटस्थ

वन में मृगया कर रहा था। दूर से उसने कृष्ण के लेटे हुए शरीर को देखा। पीतांबर ओढ़े हुए कृष्ण को उसने कोई मृग समझा, और निशाना साधकर एक तीर छोड़ दिया। वह कृष्ण के तल्लु मे लगा, और भीतर धँसकर शरीर के मर्म-स्थान में प्रवेश कर गया। उन्हें असह्य पीडा होने लगी।

व्याध तीर छोड़कर कृष्ण की ओर दौड़ा, लेकिन जब देखा कि जिसे वह मृग समझ रहा था और जिन पर उसने तीर छोड़ा था, वह साक्षात् कृष्ण हैं, तो वह अत्यंत भयभीत होकर कृष्ण के चरणों में गिर पड़ा, और क्षमा माँगने लगा। व्याध अत्यंत विकल था, पर कृष्ण ने कहा, “प्रिय मित्र, उरो मत, तुमने मेरा मंगल किया है। मेरी इच्छा पूरी हुई, मुझे जाना ही था। पर सोच रहा था कि कैसे जाऊँ? तुमने मेरा काम संपूर्ण कर दिया। धन्यवाद।”

देह-विसर्जन हुआ। जिस अभिप्राय से जन्म लिया था, वह अभिप्राय, वह लक्ष्य, वह हेतु उपलब्ध हुआ। जहाँ से आया वहीं गया। कृष्ण-जीवन समाप्त हुआ। पृथ्वी से एक अद्भुत महान् चरित्र उठ गया। साधको के लिए कृष्ण का जीवन एक उत्कृष्ट साधन छोड़ गया।

कृष्ण-विसर्जन पर पटाक्षेप हो गया। द्वारिका को समुद्र ने निगल लिया।

जब अर्जुन द्वारिका पहुँचा, तो कृष्ण को उसने नहीं पाया।

पांडवों के लिए ससार अब निष्प्राण और रसहीन बन गया। जीवन अर्थशून्य हो गया। इसलिए वे भी हस्तिनापुर से स्वर्गारोहण के लिए प्रस्थान कर गये।

संसार कृष्णमय था, है और रहेगा

संसार-यात्रा एक अत्यंत दुस्तर प्रयास है। जीवन में अनेक प्रकार के संकटों का सामना करना पड़ता है। धर्म-संकट उपस्थित होते हैं। यह कहां या वह कहां—ऐसे प्रश्न बुद्धि के समुख निर्णय के लिए उपस्थित होते हैं। “किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता”, “गहना कर्मणो गति” —गीताचार्य ने यह कहा है।

उपनिषदों के ऋषियों ने भी कहा है—“क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।” ज्ञानियों ने इस मार्ग को दुर्गम बताया है। जब ज्ञानी भी संशय में पड़ जाते हैं, तो फिर साधारण मनुष्य की बुद्धि की कठिनाई का क्या ठिकाना?

इस दुर्गम मार्ग को सुगम कैसे बनाया जाये? कोई उपाय है? महापुरुषों की जीवन-चर्या का अध्ययन करना, उसे मनन करना और उनके आदर्शों को व्यवहार में लाना यह एक रामबाण औषधि है। विकट प्रसंगों पर महापुरुषों ने कसा आचरण किया था, यह जानकर हमें भी ऐसे प्रसंगों पर क्या निर्णय करना चाहिए। इसका मार्ग-दर्शन हो जाता है।

महाभारत एक अद्भुत ग्रंथ है। इस ग्रंथ में मनुष्य के मानस के अनुपम चित्र भरे हैं।

महाभारत हमें बताता है कि ईश्वर की इस सृष्टि में न तो कोई शुद्ध देवता है, और न असंमिश्रित दैत्य ही। जड़-चेतन की इस सृष्टि में गुण-दोष दोनों का संमिश्रण है। ऐसा समझकर ही हमें यह यात्रा संपन्न करनी है।

भीष्म पितामह महान् पुरुष थे, पर द्रौपदी के अपमान पर मौन रहे। यह कलंक उनके नाम के साथ जुड़ गया। काशिराज की कन्याओं को उठा लीये, जो वर्तमान

संस्कृति के लिए नियम-विरुद्ध है। इस पर भी एक तिरस्कृता कन्या के असंतोष के कारण पितामह को शिखंडी के हाथ मरना पड़ा।

भीष्म अज्ञानी नहीं थे। धर्म के पूर्ण ज्ञाता थे। लेकिन फिर भी उन्हें यह सब करना पड़ा। क्यों? उन्होंने कहा कि मनुष्य अर्थ का दास है। अर्थ किसी का दास नहीं है। पर इस कथन से किसी को संतोष नहीं हुआ।

आचार्य द्रोण भी धर्म की मूर्ति थे। लेकिन मन पांडवों की ओर, तथा शरीर दुर्योधन के पक्ष में। कर्ण को भी बुराई का साथ देना पड़ा।

कर्ण भी धर्म से अनभिज्ञ नहीं था। वह शूर था। उदार था। दानी था। ज्ञानी था। बात का धनी था। ईश्वर का भक्त था। कृष्ण के प्रति उसकी पूर्ण आस्था थी। फिर भी दुर्योधन के दुष्कर्मों में उसका योगदान रहा।

विश्वामित्र ब्रह्मर्षि थे, पर मेनका का किस्सा उनके जीवन पर एक घाप छोड़ ही गया।

द्रुपदा महापुरुष होते हुए भी क्रोध की मूर्ति थे। नारद की तिकड़मबाजी तो जग-प्रसिद्ध है। परशुराम अवतार माने गये हैं, पर पिता की आज्ञा से उन्होंने माता का वध कर डाला। वह पुनर्जीवित तो हो भी गयी, पर वध तो कर ही दिया।

देवताओं का राजा इंद्र भी कलंक से वंचित नहीं था। धर्मराज युधिष्ठिर को झूठ बोलना पड़ा। श्रीकृष्ण तो येनकेन प्रकारेण कौरवों के नाश पर तुले ही थे।

इन सब उदाहरणों से हमें यह शिक्षा मिलती है कि महापुरुषों के गुणों को ही ग्रहण करना चाहिए। जो हमें दोष दिखायी भी पड़ते हैं, उनकी अवहेलना करनी चाहिए।

सहिष्णुता देवी संपदा है। क्षमा इसी का नाम है। जो असहिष्णु है वे धर्म से विमुख हैं। अहंकार के वश होकर ही मनुष्य असहिष्णु बनता है। किसी का भी तिरस्कार करना पाप है। इसलिए महापुरुषों के जो दोष हमें दिखायी देते हैं, उनकी अवहेलना करना ही धर्म है।

समय-समय पर श्रीकृष्ण को सीधे मार्ग से हटना पड़ा। क्यों? न्याय और धर्म की रक्षा के लिए। साधुओं का क्लेश मेटने के लिए। असाधुओं को समाप्त करने के लिए। भूतों के हित में सब कुछ किया गया, पर अनासक्त होकर। यह कठिन मार्ग है, क्योंकि अनासक्त होकर ही इस कठिन मार्ग का अवलंबन हो सकता है। खांडे की धार पर चलने-जैसा यह कार्य है। पर यही तो इन महापुरुषों के जीवन से सीखना है।

महाभारत के पात्रों के जीवन-चरित्र और सर्वोपरि श्रीकृष्ण के जीवन का गहराई से अध्ययन करने से, उसका मनन करने से, उसके आदर्शों का आचरण करने से मनुष्य का यह दुर्गम पथ सुगम बन जाता है।

व्यास भगवान का उद्देश्य था—लोक समुदाय को जन-हित के लिए कर्म-मार्ग में प्रवृत्त करना। कर्म ऐसा हो, जो “सर्वभूत हिते रता” हो, हमारा भी इस स्वाध्याय में यही उद्देश्य होना चाहिए।

‘श्रीकृष्ण’ शब्द आत्मा का पर्यायवाची है। आत्मा और कृष्ण एक ही अर्थ में व्यवहृत हुए हैं। सब भूतों में स्थित यह आत्मा अविभक्त है, सर्वत्र है, और एक ही है। इसलिए कृष्ण देवकीनंदन नहीं, पर आप और हम सबकी वह आत्मा है। आत्मा और परमात्मा एक है। देवकीनंदन के जन्म के पहले भी श्रीकृष्ण था, अर्थात् आत्मा और परमात्मा था। वह महाभारत-काल में भी था, आज भी है, और भविष्य में

भी रहेगा, क्योंकि वह अजर है, अमर है, अनादि है, सर्वत्र है।

इसलिए हम सब कृष्ण हैं। हमारे पूर्वज भी सब कृष्ण थे। हमारी आगे की संतान भी कृष्ण ही होगी। यह सारा संसार भी कृष्ण है।

चूंकि हम सब कृष्ण हैं, इसलिए श्रीकृष्ण का जीवन-चरित्र हम सबका जीवन-चरित्र है। मालवीयजी महाराज ने जब कहा कि ‘जीवन-चरित्र पढ़ना हो तो भागवत पढ़ो’, तब उनका तात्पर्य भी यही था कि यह सब महापुरुषों के जीवन-चरित्र हमारे जीवन-चरित्र से भिन्न नहीं हैं।

समुद्र की लहर छोटी हो या मोटी, स्वच्छ हो या गदी, अंत में तो समुद्र ही है। एक व्यक्ति साधु है, दूसरा अ-साधु, पर दोनों ही ईश्वर के अंतर्गत हैं।

नरसिंह मेहता ने कहा—“घाट घड़्या पछी नाम रूप जूजवा अंत तो हेम मे हेम होये” तरह-तरह के घाट घड़ने से उनके अनेक नाम, रूप बन जाते हैं, पर अंत में तो सभी घाट सुवर्ण ही हैं। यही इन जीवन-चरित्रों से हमें सीखना है।

जो कुछ मैंने लिखा है वह मेरी बुद्धि की नयी सृष्टि नहीं है। जैसा कि आचार्यों ने कहा है—“सुभ्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचिरे।” अर्थात् ऐसा हमने धीरे पुरुषों से सुना है जिन्होंने हमें यह सब समझाया। इसलिए जो कुछ मैंने पढ़ा और जैसा मैंने समझा वैसे ही लिखा है।

आत्मा (कृष्ण) और परमात्मा सर्वत्र, सर्वव्यापक, अनादि, अजर और अमर है। काल और स्थान से अबाधित है। इसलिए महापुरुषों की कथा इस विश्व की ही कथा है, ऐसा समझकर हम इस समाप्ति पर उसी कृष्ण की वंदना करते हैं, जो सर्वत्र है, हम में है, आप में है

“कृष्णं वंदे जगद् गुरुम्”

स्वामी चिन्मयानंदजी के गीता और उपनिषदों के भाष्य,
लोकमान्य के गीता - रहस्य, गोपालदास जीवाभाई पटेल कृत
गुजराती के संक्षिप्त भागवत, कमला सुब्रह्मन्यम् कृत अंग्रेजी
के संक्षिप्त महाभारत, बकिम बाबू के बगला कृष्णचरित एवं
अन्य भक्तों के पदों से मुझे सहायता मिली, इसके लिए मैं इन
सबका कृतज्ञ हूँ।

